बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड–23

प्राचीन भारतीय वाणिज्य, अस्पृश्य तथा 'पेक्स ब्रिटानिका', ब्रिटिश संविधान भाषण

बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर

जन्म : 14 अप्रैल, 1891 परिनिर्वाण 6 दिसंबर, 1956

बाबासाहेब

डॉ. अम्बेडकर

सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड 23

डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय

खंड : 23

प्राचीन भारतीय वाणिज्य, अस्पृस्य तथा 'पेक्स ब्रिटानिका', ब्रिटिश संविधान भाषण

पहला संस्करण : 2019 (जून)
दूसरा संस्करण : 2020 (अगस्त)

ISBN : 978-93-5109-131-8

आवरण परिकल्पना : डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, पी.एच.डी.

पुस्तक के आवरण पर उपयोग किया गया मोनोग्राम बाबासाहेब डॉ. बी. आर. अम्बेडकर के लेटरहेड से साभार

ISBN (सेट) : **978-93-5109-129-5**

रियायत के अनुसार सामान्य (पेपरबैक) 1 सेट (खंड 1–40) का मूल्य : रू 1073/-
रियायत नीति (Discount Policy) संलग्न है,

प्रकाशकः
डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय,
भारत सरकार
15 जनपथ, नई दिल्ली – 110 001
फोन : 011–23320571
जनसंपर्क अधिकारी फोन : 011–23320588
वेबसाइट :http://drambedkarwritings.gov.in
Email-Id :cwbadaf17@gmail.com

मुद्रक : अरावली प्रिंटर्स एंड पब्लिशर्स प्रा.लि., W-30 ओखला, फेज–2, नई दिल्ली–110020

परामर्श सहयोग

डॉ. थावरचन्द गेहलोत

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार

एवं

अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

श्री रामदास अठावले

सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री कृष्णपाल गुर्जर

सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री रतनलाल कटारिया

सामाजिक न्याय और अधिकारिता राज्य मंत्री

श्री आर. सुबह्मण्यम

सचिव

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय भारत सरकार

सुश्री उपमा श्रीवास्तव

अतिरिक्त सचिव एवं सदस्य सचिव, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार

डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, पी.एच.डी.

निदेशक

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

डॉ. बृजेश कुमार

संयोजक, सी.डब्ल्यू.बी.ए.

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

सकंलन (अंग्रेजी)

श्री वसंत मून

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री
भारत सरकार
MINISTER OF SOCIAL JUSTICE & EMPOWERMENT
GOVERNMENT OF INDIA
तथा
अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
CHAIRPERSON, DR. AMBEDKAR FOUNDATION

संदेश

स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माता डॉ. अम्बेडकर, बहुआयामी प्रतिभा के धनी थे। डॉ. अम्बेडकर एक उत्कृष्ट बुद्धिजीवी, प्रकाण्ड विद्वान, सफल राजनीतिज्ञ, कानूनविद्, अर्थशास्त्री और जनप्रिय नायक थे। वे शोषितों, महिलाओं और गरीबों के मुक्तिदाता थे। डॉ. अम्बेडकर सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष के प्रतीक है। डॉ. अम्बेडकर ने सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक सभी क्षेत्रों में लोकतंत्र की वकालत की। एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण में डॉ. अम्बेडकर का योगदान अतुलनीय है।

डॉ. अम्बेडकर के लेख एवं भाषण क्रांतिकारी वैचारिकता एवं नैतिकता के दर्शन–सूत्र है। भारतीय समाज के साथ–साथ संपूर्ण विश्व में जहां कहीं भी विषमतावादी भेदभाव या छुआछूत मौजूद है, ऐसे समस्त समाज को दमन, शोषण तथा अन्याय से मुक्त करने के लिए डॉ. अम्बेडकर का दृष्टिकोण और जीवन–संघर्ष एक उज्ज्वल पथ प्रशस्त करता है। समतामूलक, स्वतंत्रता की गरिमा से पूर्ण, बंधुता वाले एक समाज के निर्माण के लिए डॉ. अम्बेडकर ने देश की जनता का आह्वान किया था।

डॉ. अम्बेडकर ने शोषितों, श्रमिकों, महिलाओं और युवाओं को जो महत्त्वपूर्ण संदेश दिए, वे एक प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण के लिए अनिवार्य दस्तावेज है। तत्कालीन विभिन्न विषयों पर डॉ. अम्बेडकर का चिंतन–मनन और निष्कर्ष जितना उस समय महत्त्वपूर्ण था, उससे कहीं अधिक आज प्रासंगिक हो गया है। बाबासाहेब की महत्तर मेधा के आलोक में हम अपने जीवन, समाज राष्ट्र और विश्व को प्रगति की राह पर आगे बढ़ा सकते हैं। समता, बंधुता और न्याय पर आधारित डॉ. अम्बेडकर के स्वप्न का समाज–"सबका साथ सबका विकास" की अवधारणा को स्वीकार करके ही प्राप्त किया जा सकता है।

मुझे यह जानकर अत्यंत प्रसन्न्ता हो रही है, कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय का स्वायत्तशासी संस्थान, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, "बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर : संपूर्ण वांग्मय" के अन्य अप्रकाशित खण्ड 22 से 40 तक की पुस्तकों को, बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के अनुयायियों और देश के आम जन–मानस की मांग को देखते हुए मुद्रत किया जा रहा है।

विद्वान, पाठकगण इन खंडों के बारे में हमें अपने अमूल्य सुझाव से अवगत कराएंगे तो हिंदी में अनुदित इन खंडों के आगामी संस्करणों को और बेहतर बनाने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

(डॉ. थावरचंद गेहलोत)

बाबासाहेब अम्बेडकर के सम्पूर्ण वाङ्मय (Complete CWBA Vols.) का विमोचन
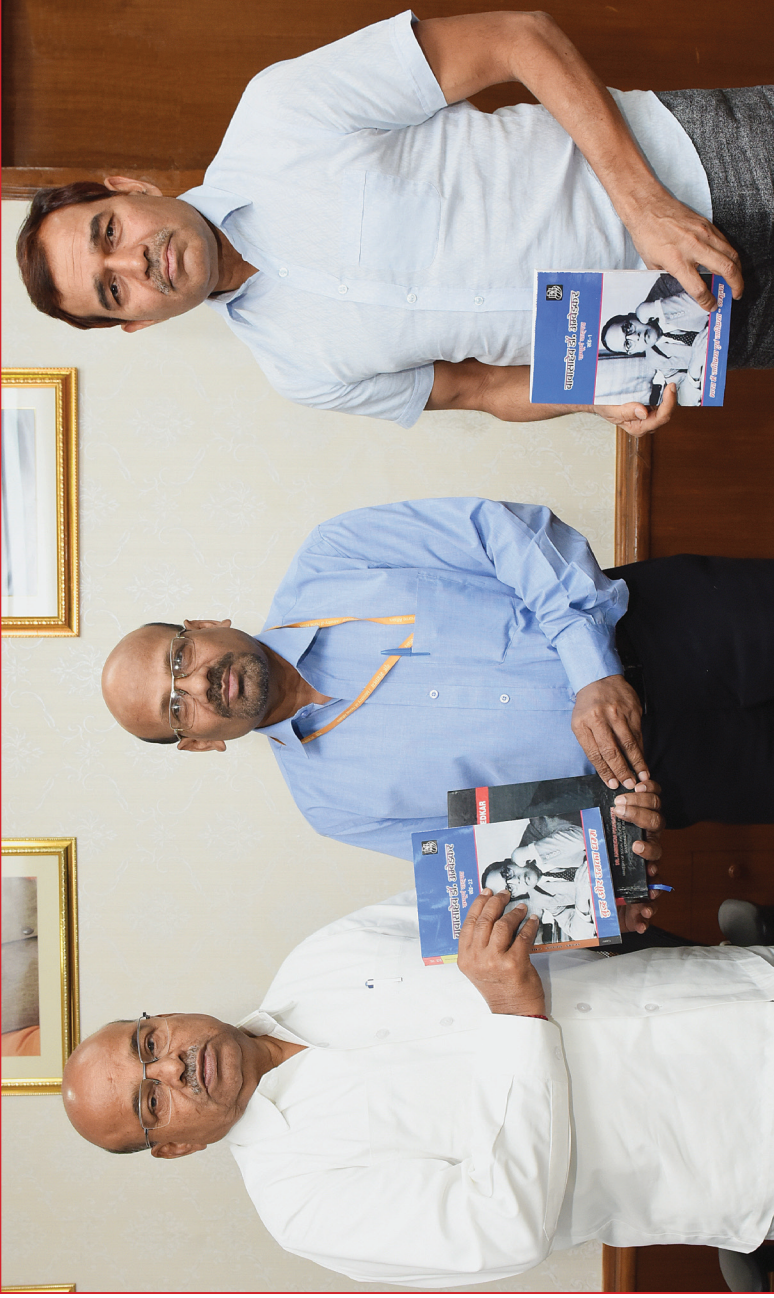
हिंदी और अंग्रेजी में CWBA / सम्पूर्ण वाड्मय, (Complete Volumes) बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर के संग्रहित कार्यों के संपूर्ण खण्ड, डॉ. थावरचंद गेहलोत, सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, और अध्यक्ष, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत सरकार, नई दिल्ली द्वारा जारी किया गया है। साथ ही डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी, निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान और श्री सुरेन्द्र सिंह, सदस्य सचिव भी इस अवसर पर उपस्थित थे। हिंदी के खंड 22 से खंड 40 तक 2019 में पहली बार प्रकाशित हुए है।

उपमा श्रीवास्तव, आई.ए.एस.
अपर सचिव
UPMA SRIVASTAVA, IAS
Additional Secretary

भारत सरकार
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
शास्त्री भवन, नई दिल्ली-110001
Government of India
Ministry of Social Justice & Empowerment
Shastri Bhawan, New Delhi-110001
Tel. : 011-23383077 Fax : 011-23383956
E-mail : as-sje@nic.in

प्राक्कथन

भारतरत्न डॉ. बी.आर. अम्बेडकर भारतीय सामाजिक–राजनीतिक आंदोलन के ऐसे पुरोधा रहे हैं, जिन्होंने जीवनपर्यंत समाज के आख़िरी पायदान पर संघर्षरत् व्यक्तियों की बेहतरी के लिए कार्य किया। डॉ. अम्बेडकर बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे इसलिए उनके लेखों में विषय की दार्शनिक मीमांसा प्रस्फुटित होती है। बाबासाहेब का चिंतन एवं कार्य समाज को बौद्धिक, आर्थिक एवं राजनैतिक समृद्धि की ओर ले जाने वाला तो है ही, साथ ही मनुष्य को जागरूक मानवीय गरिमा की आध्यात्मिकता से सुसंस्कृत भी करता है।

बाबासाहेब का संपूर्ण जीवन दमन, शोषण और अन्याय के विरुद्ध अनवरत क्रांति की शौर्य–गाथा है। वे एक ऐसा समाज चाहते थे जिसमें वर्ण और जाति का आधार नहीं बल्कि समता व मानवीय गरिमा सर्वोपरि हो और समाज में जन्म, वंश और लिंग के आधार पर किसी प्रकार के भेदभाव की कोई गुंजाइश न हो। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के प्रति कृतसंकल्प बाबासाहेब का लेखन प्रबुद्ध मेधा का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

भारतीय समाज में व्याप्त विषमतावादी वर्णव्यवस्था से डॉ. अम्बेडकर कई बार टकराए। इस टकराहट से डॉ. अम्बेडकर में ऐसा जज़्बा पैदा हुआ, जिसके कारण उन्होंने समतावादी समाज की संरचना को अपने जीवन का मिशन बना लिया।

समतावादी समाज के निर्माण की प्रतिबद्धता के कारण डॉ. अम्बेडकर ने विभिन्न धर्मों की सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था का अध्ययन व तुलनात्मक चिंतन–मनन किया।

मैं प्रतिष्ठान की ओर से माननीय सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री, भारत सरकार का आभार व्यक्त करती हूँ जिनके सद्परामर्श एवं प्रेरणा से प्रतिष्ठान के कार्यों में अपूर्व प्रगति आई है।

उपमा श्रीवास्तव

(उपमा श्रीवास्तव)
अतिरिक्त सचिव
सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय,
भारत सरकार, एवं
सदस्य सचिव

प्रस्तावना

बाबासाहेब डॉ. भीमराव रामजी अम्बेडकर एक प्रखर व्यक्तित्व, ज्ञान के प्रतीक और भारत के सुपुत्र थे। वह एक सार्वजनिक बौद्धिक, सामाजिक क्रांतिकारी और एक विशाल क्षमता संपन्न विचारक थे। उन्होंने सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों के व्यावहारिक विश्लेषण के साथ–साथ अंतःविषयक दृष्टिकोणों को अपने लेखन और भाषणों के माध्य से प्रभावित किया जो बौद्धिक विषयों और भावनाओं को अभिव्यक्त एवं आंदोलित किया। उनके लेखन में वंचित वर्ग के लोगों के लिए प्रकट न्याय और मुक्ति की गहरी भावना है। उन्होंने न केवल समाज के वंचित वर्गों की स्थितियों को सुधारने के लिए अपना जीवन समर्पित किया, बल्कि समन्वय और 'सामाजिक समरसता' पर उनके विचार राष्ट्रीय प्रयास को प्रेरित करते रहे। उम्मीद है कि ये खंड उनके विचारों को समकालीन प्रासंगिकता प्रदान कर सकते हैं और वर्तमान समय के संदर्भ में डॉ. अम्बेडकर के पुनःपाठ की संभावनाओं को उपस्थित कर सकते हैं।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, भारत के साथ–साथ विदेशों में भी जनता के बीच बाबासाहेब डॉ. अंबेडकर की विचारधारा और संदेश के प्रचार–प्रसार हेतु स्थापित किया गया है। यह बहुत ख़ुशी की बात है कि सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्री के नेतृत्व में प्रतिष्ठान के शासी निकाय के एक निर्णय के परिणामस्वरूप, तथा पाठकों की लोकप्रिय माँग पर डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान, बाबासाहेब अम्बेडकर के हिंदी में संपूर्ण वांग्मय (Complete CWBA Volumes) का दूसरा संस्करण पुनर्मुद्रित कर रहा है।

मैं संयोजक, अनुवादकों, पुनरीक्षकों, आदि सभी सहयोगियों, एवं डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान में अपनी सहायक, कुमारी रेनू और लेखापाल, श्री नन्दू शॉ के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनकी निष्ठा एवं सतत् प्रयत्न से यह कार्य संपन्न किया जा सका है।

विद्वान एवं पाठकगण इन खंडों के बारे में सुझाव से डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान को उसकी वैधानिक ई–मेल आई.डी. **cwbadaf17@gmail.com** पर अवगत कराएं ताकि, अनुदित इन खंडों के आगामी संस्करणों को और बेहतर बनाने में सहयोग प्राप्त हो सकेगा।

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान हमेशा पाठकों को रियायती कीमत पर खंड उपलब्ध कराने के लिए प्रयास करता रहा है, तदनुसार आगामी संस्करण का भी रियायत नीति (Discount Policy) के साथ बिक्री जारी रखने का निर्णय लिया गया है। अतः प्रत्येक खंड के साथ प्रतिष्ठान की छूट नीति को संलग्न कर दिया गया है। आशा है कि ये खंड पाठकों के लिए प्रेरणा का स्रोत बने रहेंगे।

(डॉ. देबेन्द्र प्रसाद माझी)
निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मंत्रालय, भारत सरकार,

15, जनपथ,
नई दिल्ली

जिस समाज में कुछ वर्गों के लोग जो कुछ चाहें वह सब कुछ कर सकें और बाकी वह सब भी न कर सकें जो उन्हें करना चाहिए, उस समाज के अपने गुण होते होंगे, लेकिन इनमें स्वतंत्रता शामिल नहीं होगी। अगर इंसानों के अनुरूप जीने की सुविधा कुछ लोगों तक ही सीमित है, तब जिस सुविधा को आमतौर पर स्वतंत्रता कहा जाता है, उसे विशेषाधिकार कहना अधिक उचित होगा।

—डॉ. भीमराव अम्बेडकर

विषय सूची

रियायत नीति (Discount Policy)

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर

लेख और भाषण

अंग्रेज़ी खंड - 12

हिंदी खंड - 23

ये विचार उस व्यक्ति के हैं जो सत्ताधारियों की कठपुतली नहीं रहा और जिसने महिमा की चाटुकारिता नहीं की। ये विचार उस व्यक्ति के हैं जिसकी प्राय: संपूर्ण सार्वजनिक चेष्टा गरीबों और पददलितों की मुक्ति के लिए लगातार संघर्ष करने की रही और जिनसे इसका केवल यह पुरस्कार मिला कि राष्ट्रीय पत्रिकाओं और राष्ट्रीय नेताओं ने उसकी महज इसलिए निरंतर निंदा की तथा उसके साथ दुर्व्यवहार किया कि मैं जालिमों के धन से पददलितों की मुक्ति करने और अमीरों के पैसे से गरीबों का उत्थान करने का चमत्कार– मैं इसे चाल नहीं कहूँगा– दिखने में मैं उनका साथ नहीं देता।

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर 'जाति का विनाश' पुस्तक में

भाग एक

प्राचीन भारतीय वाणिज्य

प्राचीन भारतीय वाणिज्य से संबंधित इस भाग की विषय सामग्री तीन अध्यायों (मूल अध्याय संख्या 1, 2, 5) में दी गई है। यह सामग्री डॉ. अम्बेडकर ने 1913-15 के दौरान विश्वविद्यालय की एम.ए. परीक्षा के एक शोध निबंध के रूप में तैयार की थी। बाद में उन्होंने एक नया विषय ले लिया, जो अब 'ईस्ट इंडिया कंपनी का प्रशासन और वित्तपोषण' के नाम से जाना जाता है जिसे इस ग्रंथ-माला के ग्रंथ-6 में प्रकाशित किया गया है। डॉ. अम्बेडकर एक सुलेखक थे। उनकी हस्तलिपि की एक प्रति (1913-15) यहाँ छापी गई है, ताकि भावी पीढ़ी इसका अनुसरण कर सके।

-सम्पादक

अध्याय 1

मध्य पूर्व में भारत के व्यापारिक सम्बन्ध

रोम के राजाओं ने पूर्व व पश्चिम दोनों दिशाओं में अपनी तलवार फैलाई जिसके परिणाम अलग-अलग रहे। पूर्व में उन्होंने केवल[1]..... को देने के लिए देश जीते। तथापि पश्चिम में उन्होंने लोगों को जो प्रथमतया उनके मातहत[2] .... थे, रोमन बनाया, अथवा उन्हें छोड़ दिया ताकि वे अपनी इच्छा से रोमनीकरण स्वीकार कर लें। इस प्रकार रोमनीकरण के परिणामस्वरूप पश्चिम को रोम के लोगों से जो विरासत मिली पश्चिमी देशों को उस पर गर्व है। यह समृद्ध विरासत किस प्रकार संचित हुई इसके बारे में जानने के लिए किसी ने कोई प्रयास नहीं किया।

यदि हम सैन्य संगठन, कानून की संपन्नता, युद्ध से पहले तथा जीत के पश्चात् सैनिकों का आश्चर्यजनक ढंग से अनुशासन पालन किए जाने के लिए रोम के लोगों से प्रेरणा लेते हैं तो यह ठीक ही है। चारों दिशाओं से घिर जाने पर उत्तर में एटरूसकांस्पियों, पश्चिम में मुसलमानों, पूर्व में सेबियाइयों तथा दक्षिण में यूनानियों द्वारा लातीनी लोग जब निराश हो गए तो उन्होंने शक्ति बटोरी। संभवतः स्त्रियों तथा बच्चों को छोड़कर बाकी सभी लोगों ने एक विशाल सेना का रूप धारण कर लिया जो आवश्यकता पड़ने पर किसी भी समय लाल झंडे के नीचे एक साथ खड़ी हो सकती थी। रोम ने, वहाँ जितना स्थान था उससे अधिक शक्ति एकत्र कर ली और इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि शक्ति के बढ़ने से विस्फोट और विस्तार होता है। राज्य क्षेत्र के विस्तार की लालसा या विदेशी उत्पीड़न के उन्माद में आकर रोम ने पहले इटली प्रायद्वीप को अपने अधिकार में लिया। अपना साम्राज्य बढ़ाने के इच्छुक लोग कहीं रुकना नहीं जानते। रोम अपने हथियारों के बल पर विश्व को जीतने के अभियान पर निकल पड़ा और युद्ध को अपना एकमात्र भद्र व्यवसाय बना लिया। वे नहीं जानते थे कि युद्ध स्पर्धा की भाँति स्वयं को भी नष्ट करता है। एक तीव्र आवेगी रोम ने बहुत बड़ा क्षेत्र अपने अधिकार में ले लिया, लेकिन जब आगे बढ़ने की शक्ति खत्म हो गई, जो होना ही था, तो रोम ने अपना व्यापक विस्तार क्षेत्र छोड़ दिया और पुनः अपना क्षेत्र संकुचित कर लिया।

---

1. पांडुलिपि का पहला पृष्ठ गायब है। पांडुलिपि दूसरे पृष्ठ से आरंभ होती है।
2. यह भाग दीमक ने खा लिया है।

सेना तथा हथियारों के अमानवीय प्रयोग के अतिरिक्त रोमनवासियों को सड़क बनाने व प्रशासन में महारत हासिल थी। रोमनों की ये कलाएँ पूर्णतया स्वाभाविक हैं तथा साम्राज्यवाद की सगामी है। इनके अतिरिक्त रोम का सभ्यता के मामले में बहुत कम योगदान है।

रोमन साम्राज्यवाद में पूर्वी देशों से निरंतर शांतिपूर्वक घुसपैठ हुई। दर्शन शास्त्र, खगोल विज्ञान, गणित तथा चिकित्सा शास्त्र पूर्व के देशों की देन है। विद्वता रोमनों की व्यावहारिक प्रतिभा से मेल नहीं खाती थी। रोम के राजदरबार में पूर्वी देशों के अनेकों रत्न थे। मिस्र का दावा है कि प्लोमी तथा प्लोटीनस मिस्र के थे। पोरफीरी तथा लेमलीचस सीरिया की संतान थे, जबकि डायोसकोराइड तथा गैलेन एशिया के थे। रोमन सभ्यता में पूर्वी दासों का काफी योगदान रहा। इन्होंने रोमन बच्चों को राज्य द्वारा स्थापित जनता विद्यालयों में शिक्षा भी दी। रोमन सौंदर्य के नहीं अपितु सामर्थ्य के प्रशंसक थे। रोम ने, जो कला-विहीन था, अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए कला और कलाकारों को प्रोत्साहन दिया। रोम के लोगों को शोख रंगों में बड़ा आनंद आता था। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि ट्रोजन के वृहद खंभों की सजावट सुनहरे तथा सिंदूरी रंगों में की गयी है। इसकी प्रेरणा उन्हें पूर्वी देशों के साथ व्यापार से मिली।[1] रोमन वस्तुकला भी पूर्वी देशों के दासों की देन है। रोम की संपूर्ण शक्ति युद्ध जीतने में व्यय होती रही या अपने अस्तित्व की लड़ाई में व्यय होती रही। लेकिन युद्ध के बाद के आराम के समय का उपयोग रोम के अधीनस्थ लोगों द्वारा रोम में लाई गई। विभिन्न प्रतिभाओं से लाभ उठाने के लिए किया गया होगा। दुर्भाग्य से रोम ने कभी यह महसूस नहीं किया, और यदि महसूस किया तो बहुत देर से महसूस किया, कि शांति का भी अपना एक महत्व होता है जो युद्ध के महत्व से किसी तरह कम नहीं है......।*

रोम की विशुद्ध सैनिकवादिता इस बात से बिल्कुल मुखरित हो जाती है तथा यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि रोम ने शांति की प्रतिमा स्थापित की थी।*

यद्यपि रोम में कुछ उद्योग थे परंतु उनकी उत्पादन क्षमता बहुत कम थी। उनका उपयोग उत्पादन से अधिक था जिससे लगातार मुद्रा बाहर जाती थी। लेटफुंड़िया ने रोम की कृषि नष्ट कर दी थी और किसानों को भिखारी बना दिया था, इस कारण खाद्यानों के लिए सिसली और मिस्र पर आश्रित हो गया था। कुछ हाथों में भूमि के केंद्रित हो जाने के कारण भूमि उत्पादक नहीं रही थी तथा वास्तव में इटली में नाम मात्र की भी उपज नहीं थी। रोम में प्रायः सभी वस्तुएँ पूर्वी देशों से आती थीं और इनके बदले में यहाँ से कोई भी चीज़ नहीं जाती थी अन्यथा बहुत कम चीज़ें जाती थीं।

---

1. डब्ल्यू. आर. पेटर्सन, "द नेमिसिस ऑफ नेशंस," पृष्ठ 307

* यह भाग दीमकों ने खा लिया है।

"कांस्टेटाइन द्वारा रोम को राजनैतिक सत्ता का केंद्र बनाए जाने से पहले पूर्व के देशों में, मुख्यतः प्राचीन सभ्यता के इन देशों में, हमें उद्योगों तथा धन-दौलत, तकनीकी योग्यता तथा कलात्मक उत्पादन और ज्ञान व विज्ञान की बात देखनी चाहिए।[1] पूर्व के देशों की मनीषा से ज्ञान की सभी शाखाएँ प्रभावित हुई थीं।[2] वे तकनीकी ज्ञान आविष्कारशील बुद्धि तथा कारीगरों की योग्यता के मामले में रोम से आगे थे।[2] औद्योगिक कलाओं के उत्पादन से स्वयं उद्योग तक इसमें पूर्वी देशों के बढ़ते प्रभाव की झलक मिलती है। यह देखा जा सकता है कि पूर्वी देशों के बड़े उत्पादन केंद्रों ने धीरे-धीरे यूरोपीय भौतिक सभ्यता को कैसे बदला। यह बताया जा सकता है कि गौल में विदेशी पद्धतियों तथा प्रक्रियाओं के सूत्रपात से वहाँ के पुरातन स्थानीय उद्योग में कैसे परिवर्तन आया और उनके उत्पादों में कैसे सुधार हुआ और वे अप्रत्याशित रूप से कैसे हो गए। अति प्राचीन काल से औद्योगिक क्रान्ति तक, पूर्वी देशों को विश्व कार्यशाला समझा जाता था और इस बात पर ध्यान देना अत्यंत महत्वपूर्ण है कि जब पूर्व के देशों में बड़ी मात्रा में लोहे के खंभे बनाए जा रहे थे उस समय पश्चिमी देशों के लिए पत्थर तराशना तथा कुल्हाड़ी बनाना एक उत्कृष्ट मानव कृत्य था।

इस प्रकार, पूर्व ने पश्चिम को प्रेरणा दी।* जहाँ सर्वप्रथम सभ्यता का बीज फूटा, जहाँ ज्ञान तथा उन्नति का सूत्रपात हुआ, वे स्थान थे नील नदी की घाटी, युफरेटस, यांग्स्टी क्यांग तथा सिंधु घाटी। यूनान और रोम ने तो पूर्व से प्रकाश ग्रहण करके उसकी आभा पश्चिम में फैलाई।[1]

इस दृष्टि से देखा जाए तो 'अंधकार युग' की बात इतिहासकारों की कल्पना मात्र है। क्या ऐसा 'अँधा युग' कभी यूरोप में था? यदि हाँ, तब वहाँ प्रकाश कब आया? इतिहास से यह बात स्पष्ट नहीं होती। जो कुछ भी सभ्यता व प्रकाश वहाँ था वह भूमध्य सागर की पूर्वी घाटी में सीमित था और यह पूर्व से आता था। इसके अलावा, समूचे यूरोपीय महाद्वीप में काफी देर तक बर्बरता का बोलबाला रहा। यूरोपीय सभ्यता की रेखा लगातार ऊपर जा रही है और जिस युग को इतिहासकार अंधकार युग कहते हैं उस युग में सभ्यता का स्तर पिछली कुछ सदियों की सभ्यता के स्तर से ऊँचा था। अंधकार युग की कल्पना समस्त यूरोप को रोम का पर्याय मानने की गलत धारणा के कारण की गई, लेकिन किसी एक रंग को देखकर पूरे शरीर की कल्पना कर लेना गलत है।

तथ्यों का पता लगाने के लिए 'अंधकार युग' का प्रश्न पूर्व के इतिहासकारों द्वारा उठाया जाना चाहिए। पूर्व के इतिहासकारों को ही यह बताना होगा कि शिखर तक पहुँचने के

---

* कुछ हिस्सा दीमकों ने खा लिया है।

1. डब्ल्यू. आर. पेटर्सन, "द नेमिसिस ऑफ नेशंस," पृष्ठ 334

2. फ्रेंज कुमार रिलीजन्स/पेगनिज्म

पश्चात यह महापतन कैसे हुआ, सूर्योदय के पश्चात एकदम यह अंधकार कैसे हो गया?

यह शोचनीय है कि आदिकालीन एवं सर्वाधिक उदीयमान सभ्यता अंधकार में चली गई और एकदम रुक गई जबकि उससे उन्नति की आशा थी। आदिकालीन सभ्यताओं में से कुछ सभ्यताएँ लुप्त हो गईं और ईंटों तथा पटलों पर लेखों के रूप में उनके अवशेष रह गए।

इतिहासकार बहुधा सोचते हैं कि सभ्यता एक विशिष्ट स्थान पर ही क्यों विकसित होती है, अन्य स्थान पर क्यों नहीं? क्या ऐसा वहाँ के निवासियों की योग्यता के कारण होता है? अथवा इसलिए कि भगवान की ही इच्छा उन्हें सभ्यता प्रदान करने की थी? थोड़ा विचार करने पर हम समझ जाएँगे कि ये दोनों ही बातें निरर्थक हैं। पहली बात पर्यावरण की भूमिका। यदि समृद्ध पर्यावरण हो और उसके संरक्षण के अवसर मौजूद हों, या विदेशी आक्रमण का अभाव हो, तो सभ्यता का पनपना अवश्यम्भावी है।

भारत की भौगोलिक स्थिति ने उसे सभ्यता की प्रारंभिक जननी बना दिया। प्रकृति ने उसे यह पृथकत्वता प्रदान की है जिसकी तमन्ना बहुत से ऐसे कबीले करते हैं जो अपनी सामर्थ्य को विकसित करने और प्रकृति के वरदानों का पूरा लाभ उठाने के लिए सदा एक सुरक्षित स्थान की तलाश में रहते हैं। उत्तर में हिमालय की पर्वत-श्रेणियों द्वारा चीन तथा तिब्बत से पूर्व में टेनासिरिज़्म द्वारा बर्मा तथा असम से और पश्चिम में (कराकोरम) (हिन्दुकुश) की श्रृंखलाओं द्वारा अफगानिस्तान से पृथक यह समस्त प्रायद्वीप स्वयं अपने में एक छोटी दुनिया बन गया है जिसकी मज़बूत प्राकृतिक किलेबंदी है, "उत्तर-पश्चिम में पर्वतों की दीवार और अन्य सभी ओर समुद्र की खाई।*[1]

यह 'विलोम त्रिकोण' अपने में अत्यंत विविध तथा अत्यंत प्रचुर प्राकृतिक साधन समाए है। ब्रिटिश भारत में न केवल पशुओं की प्रचुरता है, अपितु एक अनूठी विविधता भी है। भारत में इतनी किस्मों के पशु हैं कि उनमें से कुछ की केवल आकृति ही मेल खाती है और कोई समानता नहीं है। प्राचीन काल में जिस समय भारत पर भारतीयों का ही अधिकार था, तब भारत ने जितनी प्रगति की उतनी प्रगति आदिम मानव से आशा नहीं की जा सकती थी। हमारे पास उसके कृत्यों का बहुत कम लेखा-जोखा है, किन्तु जो भी हमारे पास उपलब्ध है उससे हमें काफी जानकारी मिलती है जैसा कि नीचे दिए गए विवरण से स्पष्ट हो जाएगा।

हमारा संबंध इस बात से नहीं है कि भारतीयों ने अनेक क्षेत्रों में क्या-क्या उपलब्धियाँ प्राप्त कीं। हमें अपना ध्यान केवल उनकी आर्थिक नीतियों पर केंद्रित करना है। प्रारंभ में उन पर विचार करना बेहतर होगा क्योंकि इससे हमें अपनी समीक्षा में सहायता मिलेगी।

---

1. ब्रुक एडम्स, लॉ ऑफ सिविलाइजेशंस एंड डिके

प्रकृति के मामले में तो शोचनीय अभाव है। हिंदू अपने जीवन के आर्थिक कार्यों को छोड़कर सभी चीज़ों में बातूनी हैं और इसका कारण जानना कठिन नहीं है। समाज में एक वर्ग ने शिक्षा पर अधिकार कर लिया जो प्राय: मधुमक्खी के छत्ते में नर मधुमक्खी की तरह थे जो दावत पर एकदम टूटते हैं जिसमें उनका कुछ भी योगदान नहीं है। ब्राह्मण अथवा बुद्धिजीवी आराम की ज़िन्दगी व्यतीत करते थे और खूब खाते-पीते थे। यही कारण है कि प्राचीन हिन्दुओं की आर्थिक गतिविधियों का किसी ने निरूपण नहीं किया है और साहित्य में उनका कोई उल्लेख नहीं है जो पूर्णत: ब्राह्मणवादी है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि भारत ने आर्थिक विज्ञान पर कोई साहित्य क्यों तैयार नहीं किया। अत: विदेशी लेखकों ने इस बारे में जो थोड़ा बहुत उल्लेख किया है हमें पूर्णत: उस पर निर्भर रहना पड़ता है। यह बेहतर होगा कि हम वाणिज्य के विषय पर आने से पूर्व प्राचीन भारत के आर्थिक विकास का संक्षेप में निरीक्षण करें। इस विषय पर हमें ऐसा कोई साहित्य नहीं मिलता जिससे हमें बौद्धों से पहले के समय के बारे में जानकारी प्राप्त हो सके। बुद्ध जातक अर्थात् बुद्ध के जन्म की कहानियाँ इस विषय का प्राचीनतम स्रोत हैं। इन जातकों में भारतीय समाज के आर्थिक संगठन का हवाला दिया गया है। यह समाज इन जातकों के लिखे जाने से बहुत पहले अस्तित्व में था।

1. कृषि संगठन :

प्राचीन काल में हिंदू गाँवों में रहते थे। उस समय मकान दूर-दूर न होकर एक साथ कई मकान होते थे। हर गाँव में 30 से 1000 परिवार रहते थे। कृषि उच्चतम व्यवसाय समझा जाता था और जैसा कि हर भारतीय मानता है, व्यापारियों को दूसरा स्थान प्राप्त था। सामाजिक श्रेणीक्रम में सिपाही अंतिम स्थान पर था।

खेत को किसान तथा उसके परिवार द्वारा और कभी-कभी किराए के मज़दूरों द्वारा जोता जाता था। परंपरागत भावना भूमि स्थानांतरण के विरुद्ध थी। फिर भी हम देखते हैं कि भूमि खेती के लिए लगान पर दी जाती थी। स्वतंत्र रूप से जो भूमि का स्वामी होता था, उसकी इज़्ज़त थी। लेकिन पूँजीपति के खेत पर काम करना पसंद नहीं किया जाता था। इस बात का कोई निश्चित सबूत नहीं है कि ग्रामीण जीवन में ज़मींदारी प्रथा थी अथवा नहीं।

सड़कों, तालाबों तथा नगरपालिका इमारतों को बनाने तथा उनकी मरम्मत करने में जनता पूरा सहयोग देती थी। "राजा कच्चे माल पर वार्षिक तिलहा लेता था। यह माल के रूप में 1/6, 1/8, 1/10 या 1/12 होता था। दालें, अनाज तथा गन्ना मुख्य पैदावार थे। सब्ज़ियों और संभवत: फूलों की भी खेती होती थी। चावल मुख्य

---

* यह भाग दीमकों ने खा लिया है।

1. थॉमस. ई. डब्ल्यू. हिस्ट्री ऑफ इंडिया। पृष्ठ-2

खाद्य पदार्थ समझा जाता था।''

कोई भी आदमी खेती कर सकता था, यहाँ तक कि ब्राह्मण भी खेती करते थे। वे छोटे-बड़े किसान बन सकते थे। इससे उनकी जाति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। पुरातन तथा आधुनिक हिंदुओं को खेती से पुरातन यूनानियों से भी अधिक प्रेम है। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि वे गाय की पूजा करते हैं।

हिंदुओं की गाय के प्रति श्रद्धा अधिकांश विदेशियों के लिए एक पहेली बनी हुई है और सबसे बड़ी बात यह है कि उन अधपके धर्मप्रचारक मिशनरियों के लिए एक आकर्षण है जो अपने धर्म प्रचार के लिए भारत आकर हिन्दुओं को ठगते हैं।

गाय की पूजा के पीछे वही आर्थिक भावना है जो रोम में देवताओं को बिना छाँटी अंगूर की शराब न देने के पीछे है। गाय और इसी तरह के अन्य पशु किसानों के प्राण हैं। गाय बैलों को जन्म देती है, जो खेत जोतने के लिए अति आवश्यक हैं। यदि हम गाय को गोश्त के लिए मार देते हैं तो अपनी खेती की संपन्नता को खतरे में डालते हैं। पूरी दूरदर्शिता से प्राचीन हिंदुओं ने गाय का माँस खाने पर रोक लगा दी और इस प्रकार गायों का मारा जाना रोका। लेकिन इसके पीछे धार्मिक स्वीकृति भी होनी चाहिए। इसलिए पुराने हिंदू धार्मिक साहित्य में गाय के बारे में विभिन्न कथाएँ पाई जाती हैं।

2. श्रमिक वर्ग, उद्योग तथा वाणिज्य का संगठन

यह तथ्य हिंदुओं की साख बढ़ाता है कि उनके आर्थिक जीवन में दासता की बहुत कम भूमिका रही है। पकड़ा जाना, कानूनी सज़ा, अपने आप पतित होना तथा ऋण - ये चार मुख्य कारण हैं, जिनसे मनुष्य दास बनता है। किंतु यह सिद्ध करने के पर्याप्त प्रमाण हैं कि दयालुता का व्यवहार किया जाता था और दास मुक्ति हर समय संभव थी। दासों की संख्या बहुत कम थी। जो भी लोग मज़दूरी करते थे उनको नकद या अनाज के रूप में मज़दूरी मिलती थी और अधिकांश संख्या ऐसे ही लोगों की थी।

उद्योग-धंधा करने वालों में निम्नलिखित आते हैं:-

(क) बद्धधाकी – इस श्रेणी में बढ़ई, जहाज़ निर्माता, बैलगाड़ी बनाने वाले तथा वास्तुकार आते हैं।

(ख) कम्मारा – इस श्रेणी में धातु शिल्पकार अर्थात लोहे के औज़ार जैसे हल की फाली, कुल्हाड़ी, लोहे का सामान, उस्तरा, सुई जो पानी पर तैर सकती है और चाँदी या सोने की मूर्ति बनाने वाले आते हैं।

(ग) पसना कोट्टक – इस श्रेणी में न केवल पत्थरों की खदान करने और पत्थर तराशने वाले अपितु कोटरिका बनाने वाले भी आते हैं।

"सभी व्यापारिक उद्योग-धंधों में एक अच्छा-खासा संगठन था। कतिपय व्यवसाय खास गाँवों में स्थापित थे, जो उपनगर थे या बड़े शहरों के साथ लगे थे या आसपास के गाँवों से जुड़े थे जैसे, लकड़ी तथा धातु का सामान बनाने वाले उद्योग और कुम्हारी। जो व्यवसाय शहरों में थे वे विशेष गलियों में थे जैसे हाथी दाँत का सामान बनाने वाले और रंगाई करने वाले।"

व्यवसाय भली-भाँति संचालित थे तथा एक या दो बड़े कारीगरों द्वारा निरीक्षित होते थे जो नगर पालिकाओं और शहरों के औद्योगिक संगठनों के मुखिया होते थे।

प्रमुखों या वरिष्ठ लोगों (बैठकों) की अध्यक्षता में अनेक शिल्पीसंघ (सेनियो) थे। बढ़इयों, लोहारों, मोचियों, रंगरोगन करने वालों तथा विभिन्न कलाओं के विशेषज्ञों के अपने ग्रिड थे। यहाँ तक कि मल्लाहों, हार बनाने वालों तथा कारवाँ व्यापारियों के भी अपने ग्रिड थे।

वंशानुगत व्यवसाय के शिल्पीसंघ थे, लेकिन कठोर जाति प्रथा नहीं थी और ब्राह्मण भी निकृष्ट पेशे करते थे।

नदियों के रास्ते बहुत कम आना-जाना होता था, यह ज़्यादातर कारवाँ से होता था। औद्योगिक केंद्र अच्छी सड़कों से जुड़े थे जिससे आने-जाने में काफी सुविधा होती थी। रामायण में उल्लेख है कि एक सड़क राजा दशरथ की राजधानी अयोध्या से आरंभ होती थी और हिमालय पहाड़ के पास व्यास नदी पर स्थित कैकेयी की राजधानी राजगृह तक जाती थी। व्यास नदी जिसका प्राचीन नाम विपाशा है जिसको यूनानी लोग हाईपासिस के नाम से जानते थे, हस्तिनापुर (दिल्ली) कुरू राज्य की राजधानी से होकर जाती थी। प्राचीन भारत की सड़कों के बारे में सिकंदर की सूचना सम्भवतया सर्वाधिक सही है तथा सड़कों का माप करने के लिए नियोजित सर्वेक्षकों का सबसे बड़ा स्रोत है। इस स्रोत से हमें पता चलता है कि एक सड़क पुष्कलावती से, जो आधुनिक अटक के पास है, तक्षशिला होकर व्यास नदी पार करके पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) जाती थी। एक और सड़क पुष्कलावती को इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) से जोड़ती थी और उज्जैन को जोड़ती हुई विंध्य पार करके प्रतिस्थाना होती हुई नर्मदा व ताप्ती को पार करके दक्षिण की ओर जाती थी। यातायात के आंतरिक राजमार्ग भी थे जिसका कारवाँओं के उदय द्वारा संचालन होता था। आरंभ में भारत में आन्तरिक व बाह्य व्यापार का महत्त्व इतना अधिक हो गया था कि बुद्ध जातकों में हमें कारवाँ नेताओं के एक संगठन का उल्लेख मिलता है। पाली में कारवाँ नेता अथवा सार्थवाह यात्रा में अगुवाई करता था और उसका काम यह हिदायत देना होता था कि कहाँ रुकना है, कहाँ पानी पीना है, लुटेरों के प्रति क्या सावधानी बरतनी है, कौन से रास्ते से जाना है, आदि। व्यादियों के कारवाँ अधि कतर रात को यात्रा करते थे।

प्राचीन भारत में व्यापार पूर्णतः व्यक्तिगत नहीं था। निगमित व्यापार सिद्ध करने के बहुत से सबूत हैं। कभी-कभी व्यापार में हिस्सेदारी भी होती थी, परंतु इसका प्रचलन बहुत कम था। व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण नाममात्र का था और यह केवल राजकीय खरीद से संबंधित था। राजाओं द्वारा खरीदी जाने वाली वस्तुओं की कीमतें राज्य के मूल्य आँकने वालों द्वारा निश्चित की जाती थीं। वे व्यापारियों पर कर का निर्धारण भी करते थे जिन्हें स्वदेशी माल की प्रत्येक खेप पर संभवतया तदर्थ आधार पर बीसवाँ हिस्सा शुल्क के रूप में देना पड़ता था और विदेशों से आने वाले माल की प्रत्येक खेप पर 10 प्रतिशत शुल्क और एक अदद नमूना देना पड़ता था। अंत में वे यह हिसाब लगाते थे कि एक व्यापारी द्वारा छूट देने पर राजा को प्रति माह बेची गई एक वस्तु पर किसान 'राजकसया' बना।

किन्तु बाद में मूल्यों का निर्धारण कर दिया गया। मनु का कहना है कि प्रत्येक 5वें या 9वें दिन राजा द्वारा विपणीय वस्तुओं का मूल्य निर्धारित किया जाता था।

भारत में मुद्रा का प्रचलन, चाहे इसे बाहर से लिया गया हो अथवा देश में खोज निकाला गया हो, विवाद का विषय है, लेकिन इसके बारे में जो कुछ भी कहा जाए, सत्य यह है कि भारत में मुद्रा का चलन प्राचीन काल से था। बौद्ध साहित्य यह प्रमाणित करता है कि वस्तुओं की अदला-बदली की पुरानी प्रथा जिसके अंतर्गत गाय के बदले चावल या कोई अन्य चीज भी ली जा सकती थी, का स्थान धातु मुद्रा ने ले लिया। मुद्रा का एक निश्चित और स्वीकार्य विनिमय मूल्य था। मुद्रा के अंतर्गत सिक्के आते थे, लेकिन इसे सरकार नियन्त्रित नहीं करती थी। अधिकतर सिक्के सोने के थे और "विक्रय वस्तुओं तथा सेवाओं की कीमत नकदी में व्यक्त की जा सकती थी।" बैंक प्रणाली अधिक विकसित नहीं हुई थी। ऋण देने पर कोई रोक नहीं थी। गौतम के अनुसार सूद छह विभिन्न प्रकार से लिया जाता था।[1]

इस प्रकार के उच्च आर्थिक विकास की दृष्टि में प्राचीन हिंदुओं द्वारा उपनिवेशीकरण का व्यापारिक प्रसार किया जाना स्वाभाविक ही था। परंतु इतिहासकार यह तथ्य स्वीकार करने में बहुत संकोच करते हैं। लगता है कि उन्होंने ऐसा वर्तमान कसौटियों को इस आधार पर माना है कि समस्त हिन्दू आबादी अक्षम है अथवा उन्होंने पूर्वाग्रह के कारण ऐसे साक्ष्य की ओर ध्यान नहीं दिया है जो उनकी बनी हुई सोच से मेल नहीं खाता। भारत का एकाकीपन उनके लिए एक तुरूप का पत्ता रहा है और उन्होंने जब चाहा इसका प्रयोग किया। पर्यावरण से लोगों की गतिविधियाँ परिसीमित तो होती हैं, लेकिन हिरडर का यह कहना उचित नहीं है कि 'इतिहास हरकत में आया भूगोल है।' हम यह

---

1. पूर्व भारत में आर्थिक संगठन की जानकारी 1901 के रॉयल एशियाटिक रिसर्चस् के पृष्ठ 859 से ली गई है। – केरोलिन फोले रिहयस् डेविडस् एम.ए.

तो मान सकते हैं कि भागौलिक कारणों से भारत की यह दशा हुई है, लेकिन इसमें अतिश्योक्तिपूर्ण कथनों की हम निंदा करते हैं।

यदि हम चाहें, तो मोंटेस्क्यू की इस बात से सहमत हो सकते हैं कि पूर्वी देशों के तौर–तरीके, रीति–रिवाजों और धर्म में 'स्थिरता' यहाँ की गर्म जलवायु है। हम बकल के इस कथन को मान सकते हैं कि भारत में ऊँचे–ऊँचे पर्वत तथा घने वन होने के कारण ही भारत के लोग बड़े कल्पनाशील तथा अंध–विश्वासी हैं, अथवा हम वैज्ञानिक भूगोलवेत्ता की इस बात को मान सकते हैं कि भौगोलिक स्थिति के कारण ही भारत एकाकी है। भारत हिमालय पर्वत के कारण चीन से अलग है तथा हिंदूकुश पहाड़ के कारण फारस और अफगानिस्तान से अलग है। भारत का समुद्र तट बहुत लम्बा है लेकिन तट पर पूर्वी व पश्चिमी घाट होने से समुद्र का जहाजरानी के लिए उपयोग नहीं हुआ है।

इन सभी आरोपों में संभवतया कुछ सच्चाई है, लेकिन इन के आधार पर कोई निश्चित राय बना लेना गलत होगा। रुकावटें कितनी ही मजबूत क्यों न हों, मनुष्य के लिए अजेय नहीं हैं। मनुष्यों ने हर जगह उन्हें नियंत्रण में लेने का प्रयास किया है और अपने प्रयास में सफल हुआ है।

सभी ओर से घिरे, प्राचीन भारतीयों ने सभी प्राकृतिक तथा अन्य बाधाओं को तोड़ कर हिंद महासागर में प्रवेश किया। हिंद महासागर और भूमध्य सागर में काफी समानता है। श्री जिमनर्न का कहना है कि "चारों ओर से भूमि से घिरे होने के कारण भूमध्य सागर गर्मी में अंदरूनी झील की भाँति सुंदर लगता है। वास्तव में प्रकृति ने इसे दो रूप प्रदान किये हैं।" जब देवता प्रसन्न होते हैं तो यह झील का रूप धारण कर लेता है और जब देवता क्रोधित होते हैं तो यह समुद्र का रूप धारण कर लेता है।[1] हिंद महासागर भूमध्य सागर का एक विस्तृत रूप ही है। इसका दक्षिणी तट हटा दिया जाए तो यह न समुद्र रहता है न झील। रटजैल के अनुसार, यह आधा समुद्र है। इसके उत्तरी भाग में पहाड़ होने के कारण इसमें जल और वातावरण की वे विशेषताएँ नहीं हैं जो एक समुद्र में होती है और निकटवर्ती भू–क्षेत्रों के कारण इस पर अव्यवस्थित ढंग से हवाएँ और लहरें चलती हैं। उत्तरी पूर्वी व दक्षिणी पूर्वी पवनों ने व्यापारियों को तट से चिपके रहने के बजाय समुद्र के बीच आने के लिए आकर्षित किया।

"इतिहास के आरम्भ से ही उत्तरी हिंद महासागर एक आम रास्ता था। सिकंदर–ए–आजम द्वारा पूर्व दिशा में पुराने समुद्र मार्ग की दुबारा खोज पिछले युगों की तुलना में एक आधुनिक घटना प्रतीत होती है। इस मार्ग से होकर भारतीय उपनिवेशी, व्यापारी व पुजारी भारतीय सभ्यता को सुदूर पूर्व मुंडा टापू तक और पूर्व के माल–असबाब, विज्ञान तथा धर्म को

---

1. द ग्रेट कॉमनवैल्थ, पृष्ठ 20

यूरोप व अफ्रीका तक ले गये। हिंद महासागर ने स्वयं अपनी सभ्यता विकसित की, जिससे जावा से एबीसीनिया तक अर्द्धवृत्त तथा कुछ हद तक जातीय भिन्नता के कारण एबीसीनिया से मोजाम्बिक तक का क्षेत्र प्रभावित हुआ। एक महान समुद्री शक्ति बनने से काफी पहले ही हिंदू लोग हिंद महासागर में एक महान वाणिज्यिक राष्ट्र बन गए थे और बाद में ओमन तथा यमन के व्यापारियों के साथ-साथ उनका व्यापार भी पूर्व अफ्रीकी तट पर स्थित देशों के साथ होने लगा। मसकट, एडन, जंजीबार, पैम्बा तथा नैटाल पत्तनों पर इनके अनेकों व्यापारी हैं।''[1]

प्राकृतिक साधनों के बारे में इस प्रारंभिक जानकारी और भारत के आर्थिक विकास को ध्यान में रखते हुए प्राचीन काल में प्राचीन सभ्यता के अन्य देशों से भारत के वाणिज्यिक संबंधों का पता लगाएंगे।

भारत के प्राकृतिक संसाधनों तथा आर्थिक विकास की इस समीक्षा के बाद हम बहुत प्राचीन काल से अन्य पुरातन सभ्यताओं के साथ भारत के व्यापारिक संबंधों का निरूपण करेंगे। हम मिस्र से आरंभ करते हैं। आरंभ में यह कहना बेहतर होगा कि इतिहास के शुरू में भारत और अन्य देशों के बीच वाणिज्यिक लेन-देन के बारे में बहुत कम साक्ष्य उपलब्ध हैं और ये साक्ष्य रीति-रिवाजों या प्राचीन खंडहरों से निकाली गयी चीजों से मिलते हैं। तथापि समय गुजरने पर ठोस सबूत सामने आने लगते हैं। संसार के अतुल्य सम्पन्न क्षेत्र में स्थित मिस्रवासी शेष लोगों के मुकाबले आर्थिक तौर पर स्वतंत्र थे और यहाँ तक कहा जाता है कि उनको आर्थिक आत्म-निर्भरता पर इतना गर्व था कि उन्होंने विदेशी संपर्क पर रोक लगा दी थी। लेकिन यह बात सच्चाई से दूर है और इसके अतिरिक्त इस कथन के असत्य को सिद्ध करने के लिए हमारे पास कोई ठोस प्रमाण नहीं हैं, फिर भी स्पष्ट हो जाता है कि यह बात सही नहीं है।

मिस्र के लोग भारत से सीधा व्यापार करते थे या नहीं – यह एक विवाद का विषय है। दोनों ही मान्यताओं की आलोचना हुई है। हेरोडोटस का कहना है कि सैसोस्टिस जिसकी गार्डीनर वाक्सिन ने रैमसेसे द्वितीय के रूप में पहचान की, एक मजबूत जहाजी बेड़ा लेकर सभी तटीय देशों को पराजित करता हुआ जलडमरूमध्यों से आगे हिंद महासागर पहुँच गया जबकि उसकी थल सेनाएँ गंगा तक पहुँच गयीं।[2]

मिस्र से इजराइल के लोगों के प्रसीान से काफी पहले भारत के मिस्र के साथ व्यापारिक संबंध थे और फिलोटरास बन्दरगाह इस प्राचीन व्यापार का केन्द्र था।

मिस्र के लोगों का भारत के साथ प्राचीन समय में सीधा संबंध था या अरेबिया के माध्यम से उस देश का माल भारत के माल के साथ भेजा जाता था। यह निश्चय करना

1. ऐलन चर्चिका सेम्पल– 'इंफ्लूऐंसेज ऑफ जिओग्राफिक एनवायरमेंट, पृ. 309
1. विलियम राबर्टसन, 'डिस्क्वजिशन ऑफ इंडिया'

इस समय संभव नहीं है। यदि परोक्ष रूप से व्यापार होता था तो उनके लिए विपुल धन-धान्य के दरवाजे खुल गये थे और भारत का उत्पादन वास्तव में मिस्र पहुँचता था। थैबेंस के मकबरों से हमें इस बात के ठोस प्रमाण मिलते हैं। जोसेप के उस देश में पहुँचने के समय ही भारतीय माल मिस्र पहुँच गया था, यह बात मसालों से साबित हो जाती है जो इशमैकलाइट वहाँ बेचते थे और नीलमणि, हैकमेटाइल, लापिस, लजुली जैसे रत्न तथा अन्य वस्तुएँ जो तृतीय थॉथमस तथा उत्तरवर्ती बादशाहों के समय में थवस में मिली उनसे स्पष्ट होता है कि वस्तुओं का आदान-प्रदान निरंतर होता रहा था।[1]

'संस्कृति सदैव वाणिज्य का अनुसरण करती है' वर्तमान की अपेक्षा प्राचीन काल के मामले में यह उक्ति अधिक सही है। पुराने समय में व्यापारियों के कारवाँ अपने साथ माल ही नहीं अपितु संस्कृति भी ले जाते थे। उन्होंने संस्कृति प्रसार किया और इसे विश्वव्यापी बनाया। भारत के साथ वाणिज्यिक संबंधों से मिस्र की वास्तुकला पर इतना प्रभाव पड़ा कि जेम्स फर्गुसन ने 'हिस्ट्री ऑफ आर्किटैक्चर (पृष्ठ 142-3) में लिखा है कि एक्जम में लगा हुआ पत्थर का महान खंभा भारत की प्रेरणा से बना है, विचार मिस्र का था किंतु कारीगरी भारतीय थी। एक भारतीय नौ मंजिला पैगोडा की मिस्र में ईस्वी सन् की प्रथम सदी में प्रतिमूर्ति बनाई गयी। बोधगया जैसे भारतीय मंदिरों से इसकी समानता इंगित करते हुए वह कहते हैं कि "भारतीय कला का मिस्र की कला के साथ विलक्षण प्रणय का यह प्रतीक है।" उस समय प्रायः ऐसा होता था कि जब दो लोग सम्पर्क में आते थे तो वास्तुकला को अपने व्यापारिक सहयोग का प्रतीक बना लेते थे।[2]

यहाँ भारत के आदि निवासी द्रविड़ों का यद्यपि वे आदिम जातियाँ नहीं थे, पश्चिमी एशिया के लोगों के साथ संबंधों का उल्लेख करना भी प्रासंगिक होगा। श्री गुस्टव ओपर्ट का कहना है "अब कीलाकार अभिलेखों का अर्थ समझ में आने से निस्संदेह यह सिद्ध हो गया है कि तूरानी साम्राज्यों में संस्कृति काफी विकसित हो गयी थी। यह संस्कृति यद्यपि विचित्र भौतिकता से दूषित हो गयी थी, फिर भी कुछ कलाओं और विज्ञान के क्षेत्र में इसने काफी हद तक पूर्णता प्राप्त की। इन तूरानियों में हमारे समय के भारत के द्रविड़ भी आते हैं जिनका उन दिनों अरियाना तथा फारस पर कब्जा था।

यूरोप में एस्थोनियन्स उन तूरानियों का प्रतिनिधित्व करते हैं, और पश्चिमी तथा मध्य एशिया के बहुत से स्थानों पर वे वहाँ की जनता का आधार बन गए जबकि चीन में उन्होंने खगोलीय साम्राज्य की सभ्यता की नींव रखी।" इन तूरानियों ने सम्पूर्ण प्राचीन विश्व में साम्राज्य स्थापित किए। तूरानियों का मूल निवास "एरल झील" के आसपास का क्षेत्र माना जाता है। वहाँ से वे एशिया के बड़े भूभाग में फैल गए और

---

1. गार्डनर विल्किन्सन – 'दि एनशेंट एजेपिश्यंस, भाग-1, पृ. 161 और 250
2. "द पेरीप्लस ऑफ द ऐंटीथ्रेकन सी", डब्लू.उच. स्कॉफ द्वारा अनुवादित, पृष्ठ 66-67

1500 वर्ष तक राज किया। मिस्र निवासी, असीरियन, अकाडियन्स सुमेरियन्स और फोलीसियन्स सभी इसी तूरानी वंश की शाखाएँ हैं। मिस्र साम्राज्य के स्थापित होने के लगभग 150 वर्ष बाद अर्थात् 2500 ई.पू. में, और अक्काडियन वंश द्वारा बहुत समय तक बेबीलोन पर राज्य किए जाने के पश्चात्, आर्यों ने चालडिया पर आक्रमण किया और उसी समय फारस की खाड़ी के कन्नाइटस तथा फारस पर द्रविड़ों में दबाव डाला और कन्नानइटस को उत्तर–पश्चिम में तथा द्रविड़ों को भारत में दक्षिण पूर्व में खदेड़ दिया। आर्यों ने भारत पर जब आक्रमण किया तो द्रविड़ों ने उनका डट कर मुकाबला किया। इसी कारण वे ईसवीं सन् से पंद्रह सौ वर्ष पूर्व तक पंजाब की सीमाओं से आगे नहीं बढ़ सके।[1] इसके बाद महत्त्व तथा कलात्मक दृष्टि से भारत तथा भारत राज्य के बीच सम्पर्कों की बात आती है। बाइबिल में साक्ष्य मिलने के बावजूद भी, लेखक गण इसे ऐतिहासिक महत्त्व नहीं देते। परंतु प्रमाण इतना ठोस है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।[2] मुख्य भूभाग के अन्दर बसा होने के कारण जूडिया भारत से सीधा व्यापारिक संबंध विकसित नहीं कर सका। उसके पास कोई जलीय भाग नहीं था और इसी कारण कोई बंदरगाह भी नहीं था। वे पूर्णतः मिस्र तथा सीरिया पर आश्रित थे। क्योंकि समुद्र तथा भारत के व्यापार मार्गों पर उनका नियंत्रण था। भारत की विशाल नावें अपना सामान यमन या अरेबिया फैलिक्स तक लाती थीं। यमन भारत के सामान के लिए बड़ी मंडी था। यह वितरण केंद्र था और यहाँ से भारतीय माल व्यापारियों द्वारा सीरिया व मिस्र के जहाजों से मिस्र ले जाया जाता था। "बहुत पुराने समय से सीरिया व मिस्र भारत से विभिन्न प्रकार के मसाले, सुगंधित पदार्थ, धातु का सामान, कीमती व सुगंधित लकड़ी, रत्न, हाथी दाँत का सामान तथा अन्य कीमती वस्तुएँ मँगाते थे जो भारत में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थीं।[3] तथापि राजा सोलोमन जब गद्‌दी पर बैठा, तो उसने भारतीय व्यापार पर नियंत्रण करने का प्रयास किया। उसने देखा कि मिस्र की सत्ता का पतन हो रहा है और महसूस किया कि भारत से सीधा व्यापार करने के लिए लाल सागर पर इंदुमी को बंदरगाह के रूप में प्रयोग करना महत्त्वपूर्ण है। लेकिन चूँकि यहूदियों को समुद्री जहाज चलाने का अनुभव नहीं था, उसे फोनीसिया के राजा हिरेन का सहयोग लेना पड़ा। फोनीसियन समुद्री जहाज चलाने में माहिर थे। वे लोग भारत से सीधा व्यापार करते थे अथवा नहीं यह बहुत विवाद का विषय है। राबर्टसन के अनुसार, उनका भारत से सीधा व्यापार पर था। यह दिखाने के बाद कि अनुपजाऊ भूमि के कारण फोनीसिया

---

1. गुस्टेव ओपर्ट, "आन एन्सेंट कॉमर्स ऑफ इंडिया" मद्रास जर्नल ऑफ लिटरेचर एण्ड साइंस में प्रकाशित, (1878), पृष्ठ 189-91 मालाबारी और मिस्री प्रथाओं की समानता के बारे में देखिए ई. जे. सिमूक्स द्वारा लिखित 'प्रिमिटिव सिवलिजंशंस, भाग 1 और 2
2. डब्लू. राबर्टसन, "डिस्क्विजिशन', पृष्ठ 9-10
3. आई. लेनोरमेंट और ई. शेवेलियर : "एन्शेंट हिस्ट्री ऑफ द ईस्ट", भाग-1, पृष्ठ 144

के लोगों को किस तरह व्यापार गुजारा करना पड़ा, राबर्टसन का कहना है– "वे जो विभिन्न प्रकार का व्यापार करते थे, उनमें भारत के साथ उनका व्यापार काफी ज़्यादा मात्रा में था तथा बहुत लाभप्रद था।" भूमध्यसागर में अपनी अवस्थिति तथा जहाजरानी की अधूरी जानकारी होने के कारण, वे समुद्र के रास्ते भारत से सीधा व्यापार करने का प्रयास नहीं कर सकते थे, व्यापार की भावना ने उन्हें इंदुमाकस से पश्चिम की ओर अरब खाड़ी के कुछ बड़े बंदरगाहों की ओर प्रेरित किया। वहाँ से वे एक ओर भारत से और दूसरी ओर अफ्रीका के पूर्वी और दक्षिणी तटों से नियमित व्यापार करते थे। किन्तु अरब खाड़ी और जयरे के बीच काफी दूरी थी और सड़क के रास्ते यहाँ सामान लाना, ले जाना बहुत कठिन था। अतः उनके लिए फिनोकोलूरा बंदरगाह पर कब्जा करना आवश्यक हो गया। वहाँ पर भारत से लाई वस्तुएँ पूरे देश में छोटे और व्यावहारिक रास्ते से ले जाई जाती थीं। बाद में, पूर्व के देशों से आया माल अरब खाड़ी के दूसरे तट से नील नदी ले जाया जाने लगा जो अपेक्षाकृत लम्बा रास्ता था। रिहनोकोलूरा में उन्हें दूसरे छोटे जहाजों में लादा जाता था और टायरे ले जाया जाता था और वहाँ से पूरे विश्व में बाँटा जाता था। यह रास्ता भारत से सम्पर्क का प्राचीनतम मार्ग है जिसके बारे में विश्वसनीय जानकारी है। पूर्व की ओर नए जल मार्ग की आधुनिक खोज से पहले इस रास्ते के अनेक लाभ थे। फोनीसियन्स भारत के माल को दूसरे राष्ट्रों में उस समय के अन्य लोगों की तुलना में अधिक मात्रा में और कम कीमत पर भेज सकते थे।[1] श्री रॉबर्टसन के विचारों की पुष्टि करने वाला एक अन्य तथ्य यह है कि फोनीसियन्स ने भारत में अपने दस्तावेज पेश किये जो दोनों के आपसी संबंधों का प्रत्यक्ष प्रमाण है। राजा सोलोमोन ने पड़ोसी फोनीसियन्स से प्रेरित होकर अथवा अन्यथा टायरे के राजा हिराम से हाथ मिलाया और ईलम तथा ईजियोनघेहर में एक समुद्री बेड़ा बनाया। इस बेड़े में फोनीसियन्स नाविक थे जो क्यूफिर जाते थे और बहुत-सा धन लाते थे जिसे दोनों राजा आपस में बाँट लेते थे। कूफिर कहाँ है यह भी अनिश्चित है। लेकिन सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए प्रोफेसर लैसेन ने यह कह कर इस विवाद को समाप्त कर दिया है कि भारत के गुजरात प्रांत में अभीरा नामक स्थान ही क्यूफिर है। हर तीन वर्ष बाद यात्रा दोहराई जाती थी तथा कीमती वस्तुओं से लदे जहाज देश में आते थे। "इससे देश इतना धनवान हो गया कि राजा ने जैरूसलम में चाँदी को पत्थर समझा और देवदार के वृक्ष को अंजीर का वृक्ष जो दर्रा में बड़ी मात्रा में है।"[2]

इस प्रकार लोगों को जहाँ व्यापार के लाभ हुए वहीं उन्हें इनके खतरों का भी सामना करना पड़ा। फलस्वरूप, डीन स्टैनले के शब्दों में (सैनाई एवं पैलेस्टीन पृष्ठ–261)

---

1. डब्ल्यू. राबर्टसन, 'डिस्क्यूजन' पृष्ठ 7-8
2. 1 किंग्स x 27

"राजधानी के बारे में यह कहना कि वह एक ऐसा स्थान था जहाँ से कोई लम्बी नाव पतवारों सहित नहीं जा सकती थी और न ही कोई बड़ा जहाज गुजर सकता था, (इसाइयाह XXXIII 21), भले ही पश्चिमी धारणाओं के अनुसार कमजोरी तथा खतरे का द्योतक हो, किन्तु वास्तव में यह संपन्नता एवं सुरक्षा की अभिव्यक्ति थी।"

भारत और जुडेया के बीच व्यापार सोलोमन के समय से आरंभ नहीं हुआ, यह बहुत प्राचीन है। क्यूफिर का वर्णन सोलोमन से काफी पहले प्रथम क्रानिकल्स XXIX 4, 1 किंग्स XXII 48 और इसाइयाह 12 में मिलता है। बाइबिल के इन सबूतों की पुष्टि भाषा के सबूतों से होती है जैसे कि हिब्रू भाषा का शब्द 'टुकी' जो काव्य के शब्द "टोकेई" का थोड़ा बदला हुआ रूप है अर्थात मोर के लिए तमिल-मलयालम भाषा या हैब्रू का शब्द 'अहालिम' या 'अहोलोथ'-आलोस- जो तमिल या मलयालम में शब्द 'अगहिल' का अपभ्रंश रूप है।[1]

बेबीलोनिया का उत्थान भारत के प्राचीन वाणिज्य में एक महत्त्वपूर्ण चरण है। यूफेटस और टिगरी के संगम पर स्थित होने, फारस की खाड़ी को भूमध्यसागर से मिलाने और ऊपरी तथा निचले एशिया का संगम स्थल होने के कारण बेबीलोन का पूर्वी तथा पश्चिमी व्यापार का एक बड़ा बाजार बनना स्वाभाविक था। यह प्राचीन विश्व के सभी भागों से निकलने वाले मार्गों का संगम स्थल था। श्री केनेडी का कहना है कि इस आशय के काफी साक्ष्य हैं "जिनके आधार पर हम यह विश्वास कर सकते हैं कि सातवीं और छठी, विशेष रूप से छठी, शती ई.पू. में भारत और बेबीलोन के बीच समुद्र के रास्ते काफी व्यापार होता था। यह मुख्यत: द्रविड़ों के हाथ में था, यद्यपि आर्य भी भाग लेने लगे थे और चूँकि बाद में भारत के व्यापारी अरेबिया में तथा अफ्रीका के पूर्वी तट पर बस गये और इसके साथ ही चीन के तट पर बस गये थे, हम इसमें शंका नहीं कर सकते कि बेबीलोनिया में भी उनकी बस्तियाँ थीं। लेकिन छठी और सातवीं शताब्दियों में बेबीलोनिया अपने चरम उत्कर्ष पर था। बेबीलोनिया जिसे सैन्काचैरिब ने नष्ट कर दिया था और सरहैडोन ने जिसका पुन: निर्माण किया, बेबीलोनिया जो केवल अपने मंदिरों के लिए जाना जाता था, अब अकस्मात विश्व का सबसे बड़ा बाजार बन गया प्रतीत हो रहा था। उसकी शक्ति की कोई सीमा नहीं थी। उसका तेजी से उत्थान हुआ और उसने अपने पुराने विरोधी एवं अत्याचारी नायनैवेह का तख्ता उलट दिया। नैबूचाडनैजार के सहारे वह संसार का आश्चर्य बन गया। लेकिन उसके महान होने का राज पूर्व के खजानों पर उसका एकाधिकार होना, नालडिया के लोगों का उनके जहाजों में शोरगुल और पूर्व के फुर्तीले लोगों का उनके यहाँ बराबर आना-जाना था। इससे दूसरे राष्ट्र ईर्ष्या करने लगे। पहाराओह नैको

1. ई.जे. सिगोबस, प्रिमिटिव सिविलाइजेशन, भाग-1, पृष्ठ 545
2. जे. केनेडी, जे.आर.ए.एस. 1898, पृष्ठ 270-1

(612–596 ई.पू.) ने उस नहर को दुबारा खुलवाने के लिए गर्व से अपनी प्रजा की बलि चढ़ा दी जिसे सेटी ने नील नदी से लाल सागर तक बनवाया था, और व्यापार के लिए नयी दुनिया खोजने की उम्मीद से अफ्रीका के चारों ओर अपने फोनेसिया के जहाजों का बेड़ा भेजा। इससे पूर्व, एक ओर स्पेन और पुर्तगाल के लोगों में और दूसरी ओर बेबीलोनिया और मिस्र के बीच भारत का खजाना पाने के लिए प्रतिद्वंद्विता चल रही थी।"[2] इन वाणिज्यिक संबंधों ने भारत के साहित्य पर निश्चित रूप से प्रभाव डाला। समुद्र की काफी भूमिका रही और भीमकाय 'मोकर' का बराबर जिक्र आता था। वैदिक देवी-देवता पृष्ठभूमि में चले गये और हिंदू मस्तिष्क ने सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में ऊँची उड़ानें भरीं, उनके ये ईजाद विष्णु पुराण में पाये जाते हैं जिसमें कहा गया है कि, "सर्वोच्च शक्ति ने पृथ्वी को समुद्र के ऊपर रखा जहाँ वह एक विशाल नौका की भाँति तैरती है और अपने विस्तृत सतह से पानी के अंदर डूबती नहीं है।" सम्पूर्ण साहित्य से वाणिज्यिकता की गद्य आती है और तत्त्वतः यह आदिकालीन वैदिक साहित्य से भिन्न है। यहाँ तक कि प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपनी "हिस्ट्री ऑफ एन्सिएन्ट संस्कृत लिटरेचर" में कहा है कि "सभी ब्राह्मणों में मूल वैदिक भजनों के बारे में इतनी अधिक गलत धारणा है कि हम समझ नहीं पाते कि परम्परा के क्रम में अकस्मात् प्रबल दरार आये बिना ऐसी विरक्ति कैसे हो सकती है। यह विरक्ति विदेशी प्रभाव से हुई, जिसका कारण वाणिज्य था।" अतः भारत पर यह विदेशी प्रभाव छठी, सातवीं और आठवीं शताब्दियों में और निश्चित रूप से महात्मा बुद्ध के समय अथवा उससे पूर्व पड़ा, क्योंकि महात्मा बुद्ध ने देखा कि भारत के सभी लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, पर वह वैदिक सिद्धांत नहीं है। और इसलिए निश्चित तौर पर यह दूसरे देशों से आया होगा।[1] तथापि यह नहीं मान लेना चाहिए कि हिंदुओं की समुद्री गतिविधियाँ इस समय से आरम्भ हुई, तब तक हिंदुओं के लिए समुद्री यात्रा एक आम बात हो गयी थी। दिघ केवद्धू सूत्त (पांचवी शताब्दी ई. पू.) में बुद्ध ने उपमा के रूप में कहा है "बहुत पहले जब व्यापारियों ने समुद्र से जाना शुरू किया तो वे अपने साथ तट पहचानने वाले पक्षी ले जाते थे। जब व्यापारियों को जहाज से जमीन दिखाई नहीं देती थी तो वे तट पहचानने वाले पक्षी को खुला छोड़ देते थे। पक्षी उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम तथा बीच के स्थानों पर जाता था और ऊपर चक्कर लगाता था। यदि आकाश से उसे जमीन दिखाई देती, तो वहाँ से पक्षी पुनः जहाज पर चला जाता था। ठीक ऐसे ही बंधु रहीस डैविडस का कहना है कि आम बातचीत में इस प्रकार की बात तभी की जा सकती है, जब इस तरह की चीजें प्रचलित हों और आम लोगों को इनकी जानकारी हो।[2]

---

1. रैवरेड जोहेव एडकिंस, जे.आर.ए.एस. 1886, पृष्ठ 6
2. जे.आर.ए.एस. खंड 31, पृष्ठ 432

बेबीलोनिया का पतन भी उसी तरह अकस्मात् हुआ जिस तरह उसका उत्थान हुआ था और यह प्रक्रिया राजा डेरियस (579–484 ई.पू.) के शासनकाल से आरम्भ हुई थी। पाँचवी शताब्दी के बाद हमें पहले की भाँति पर्याप्त संख्या में व्यापारिक पट्टियाँ नहीं मिलती। फारस की विजय ने बेबीलोनिया को ही तबाह नहीं किया अपितु वे मिस्र तक पहुँच गये। जो नहरें नदियों द्वारा माल ले जाने के लिए बनाई गयी थीं वे खराब होने लगीं और नदियों का बहाव बाँधों के कारण रुक गया। इसके परिणामस्वरूप अरब के लोग व्यापारी हो गये और यमन की बेबीलोनिया और पालमायरस के वैभव के प्रति रुचि बढ़ी। डेरियस के महत्त्वपूर्ण समुद्री अभियानों के बावजूद चालडीन्स ने गैरहा तथा अन्य स्थानों पर बस्तियाँ बसा कर अपना व्यापार जारी रखा।

डेरियस ने अपने शासनकाल के दौरान बहुत से युद्ध जीते और उसका साम्राज्य सिकंदर के साम्राज्य के समीप तक पहुँच गया। भूमि के भूखे दोनों राजाओं के लिए अच्छे पड़ोसी बन कर रहना नितांत असंभव था। उनके बीच झगड़ा अवश्यम्भावी था और सिकंदर जो ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में था, अपने विजय अभियान के लिए निकल पड़ा। एक ही हमले में उसने डेरियस के साम्राज्य को नष्ट कर दिया और मिस्र, मध्य एशिया तथा भारत के उत्तरी भाग पर अधिकार कर लिया।

सिकंदर के विराट अभियान के उद्देश्य के बारे में कई अटकलें हैं। एक तर्क यह दिया जाता है कि डेरियस ने जो उसका अपमान किया था उसका बदला लेने के लिए वह इस अभियान पर निकला। परन्तु प्रोफेसर लासैन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सिकंदर की यात्रा का उद्देश्य मात्र सोने की लालसा थी और यूनान में पहुँचे भारत के माल ने उसकी इस लालसा को तेज किया। यूनान और जूडिया के साथ व्यापारिक सम्बन्ध होने से इन व्यापारी देशों के लोगों की भाषा पर भी प्रभाव पड़ा है। इस प्रकार चावल का यूनानी नाम (ओरीजा), अदरक का (जिंदीबर) और दालचीनी का (कारपिओं) तमिल नामों क्रमशः अरीसी, इंचीवर और कारावा से मिलते–जुलते हैं और यूनानी तथा तमिल शब्दों की इस समानता से स्पष्ट हो जाता है कि यूनान के व्यापारियों ने तमिल क्षेत्र की इन वस्तुओं को तथा इनके नाम को यूरोप में पहुँचाया। "यवन" वह नाम जिससे पश्चिम के व्यापारी जाने जाते थे और जिसका प्रयोग संस्कृत कविता में यूनान के लोगों के लिए किया जाता है, यूनानी शब्द "जाओनिस" से लिया गया है जो स्वयं उनकी भाषा में उन लोगों के लिए प्रयोग किया जाता है।[1] दूसरा शब्द जिसे इस समूह में जोड़ा जा सकता है, जो वह हाथी या हाथी दाँत के लिए प्रयुक्त हुआ है, और जिसकी उत्पत्ति एक ही मूल शब्द से हुई है वह यूनानी में 'एलीफैस' मिस्री में 'एबू' तथा संस्कृत में 'एमा' है और ये सब प्रोफेसर लैसन के अनुसार संस्कृत मूल के ही हैं।

1. आर.के. मुखर्जी इंडियन शिपिंग, पृष्ठ 121

सिकंदर का कुछ भी उद्देश्य रहा हो, यह निश्चित है कि वह भारत से भली–भाँति परिचित था और दोनों देशों के बीच घनिष्ट वाणिज्यिक सम्बन्ध विकसित करने की बात उसके मन में थी। सिकंदर ने देखा कि भारत के इस धनी व्यापार पर जयरे के फोनीसिन्स का एकाधिकार है जो संसार के शेष देशों में भारत का माल भेजते हैं। फोनीसिन्स के प्रति उसकी ईर्ष्या भारत की सम्पन्नता के बारे में जानकारी होने पर और बढ़ गयी। भारत आने से पूर्व वह जिस देश में गया था वह घनी आबादी वाला था और वहाँ अच्छी खेती होती थी इसके साथ ही प्राकृतिक सम्पदा तथा कला की उतनी ही भरमार थी जितनी भारत के उस भाग की, वहाँ वह अपनी सेना लेकर पहुँचा था। लेकिन जब उसको प्रत्येक स्थान पर, सम्भवतया बढ़ा–चढ़ा कर, बताया गया कि गंगा के किनारे जितना आगे भारत में जाएँगे उतना अधिक सम्पन्न क्षेत्र मिलेगा, तो यह आश्चर्यजनक नहीं है कि भारत के उन क्षेत्रों को देखने और उनको अपने अधिकार में लेने की उसकी लालसा बढ़ गयी। इससे प्रेरित होकर उसने अपने सिपाहियों को एकत्र किया और आदेश दिया कि उस क्षेत्र की ओर कूच करें जहाँ धन, प्रभुत्व और कीर्ति उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।[1] भारत का उत्तरी भाग जो सिकंदर ने जीता उसे उसने अपने साथी पोरस को दे दिया। कहा जाता है कि इस क्षेत्र में कम–से–कम 4000 नगर थे। श्री राबर्टसन का कहना है कि इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इस क्षेत्र की आबादी बहुत अधिक थी। सिकंदर का जहाजी बेड़ा जब सिंध नदी से होते हुए नीचे की ओर आया तो उसने पाया कि नदी के दोनों ओर की भूमि किसी भी दशा में उस क्षेत्र की भूमि से खराब नहीं थी जिसकी सत्ता पोरस को सौंपी गयी थी।[2]

उसके सेनापतियों प्टोलैमी, अरिस्टोवूलस तथा नियरचुस के संस्मरणों या रोजनामचों से भारत के बारे में जानकारी यूनान को और यूनान से यूरोप को मिली। मिस्र को जीतने के बाद सिकंदर ने भारत और यूनान के बीच सीधा व्यापार आरम्भ करने का विचार बनाया। इस उद्देश्य से उसने अपने नाम से अलेक्जेंड्रिया नगर बसाया जो प्राचीन काल में व्यापार की बहुत बड़ी मंडी बन गया और अनेक उतार–चढ़ाव के बावजूद भी वैसा ही बना रहा। उसने स्थाई तौर पर भारत को अपने साम्राज्य से जोड़ने के सपनों को संजोया था। उसके सारे ना सही कुछ सपने तो पूरे हो जाते यदि उसकी उम्र लम्बी होती। दुर्भाग्यवश अपना साम्राज्य स्थापित करने के कुछ समय के बाद ही सिकंदर का देहांत हो गया और उसके बाद थोड़े समय में ही साम्राज्य छिन्न–भिन्न हो गया। विभिन्न प्रदेशों के गवर्नरों ने पूरे साम्राज्य को आपस में बाँट लिया। अपने–अपने साम्राज्य को बढ़ाने की आकांक्षा, प्रतिस्पर्धा तथा व्यक्तिगत शत्रुता के वशीभूत होकर उनका आपस में युद्ध हुआ।

1. डब्ल्यू. राबर्टसन, 'डिस्क्विजिशन', पृष्ठ 16–17
2. डब्ल्यू. राबर्टसन, 'डिस्क्विजिशन', पृष्ठ 22

यह कल्पना करना गलत होगा कि भारत और यूनान के बीच व्यापार सम्बन्ध सिकंदर के साम्राज्य के पतन के कारण समाप्त हो गये। वस्तुतः इसके विपरीत हुआ, दोनों देशों के सम्बन्ध निकटतर बने। सिकंदर के अत्यंत उद्यमी तथा महत्त्वाकांक्षी सेनापति सेल्यूकस ने फारस का उपनिवेश अपने अधिकार में लेने के पश्चात् सिकंदर द्वारा भारत के जीते प्रांतों को अपने प्रभुत्व में लाने का प्रयत्न किया। सेल्यूकस जानता था कि इस जीत से व्यापारिक लाभ होंगे और इस योजना को वह अपनी बड़ी फौज के सहारे मूर्तरूप देना चाहता था। लेकिन उसके विरोधी उससे अधिक शक्तिशाली थे। उदार शासक चंद्रगुप्त उस समय भारत पर राज्य कर रहा था। सब ओर फैली रूढ़िवादिता के बीच वही एक ऐसा शासक था जिसके पास दिमाग और बाहुबल दोनों थे और जिसके विचार आधुनिक थे। सेल्यूकस ने अपने शत्रु की शक्ति को समझ लिया और बुद्धिमत्ता से शान्ति समझौता करने का निश्चय किया। उसने दोनों देशों के बीच मैत्री सम्बन्ध बढ़ाने का निश्चय किया। उसने चंद्रगुप्त के दरबार में मैगास्थनीज को एक राजदूत के रूप में भेजा। मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने के लिए मैगास्थनीज के पश्चात् डायमैच्युस ने मैत्री सम्बन्ध बनाये रखा। ग्रीसो बैक्टरियन राज्य के माध्यम से यूनानियों ने भारत से अपना सम्बन्ध बहुत समय तक बनाये रखा था, यद्यपि इसके विस्तार और ब्योरे के बारे में अनुमान लगाने के लिए हमारे पास बहुत कम साधन हैं। चीन के इतिहासकार हमें बताते हैं कि ईसा सें लगभग एक सौ छब्बीस वर्ष पूर्व तातारों का एक शक्तिशाली समूह अपने स्थान, अपने समूह से चीन के समीप आ पहुँचा तथा अपने पीछे रह गये शक्तिशाली दबाव से पश्चिम की ओर बढ़ा और टैक्सरटीज को पार करके मूसलाधार बारिश की भाँति बैक्ट्रिया पर बरस पड़ा। उस राज्य पर अधिकार कर लिया और वहाँ पर यूनानियों के प्रभुत्व को समाप्त कर दिया। उस समय तक यूनानियों को वहाँ अपना प्रभुत्व स्थापित किये लगभग 130 वर्ष हो चुके थे।[1] इस प्रकार यद्यपि सड़क मार्ग से व्यापार में व्यवधान हुआ, तथापि अलेक्जेंड्रिय, यूनान और भारत के बीच समुद्र के रास्ते आने वाले माल का बाजार बना रहा। लागुस के पुत्र पटोलमी ने अपने गवर्नर काल में भारत से व्यापार को बहुत बढ़ावा दिया। उसके पुत्र पटोलमी फिलेडैलफ्स ने भारत का सामान सीधे अलेक्जेंड्रिया ले जाने के लिए लाल सागर और नील नदी को जोड़ने वाली एक नहर बनवानी आरम्भ की, यद्यपि यह योजना बहुत बड़ी थी और बीच में ही छोड़ दी गयी। परन्तु उसने लाल सागर के पश्चिमी तट पर एक नगर बसाया जिसका नाम बैरेनाइस रखा और वह भारत के व्यापार की मंडी बना रहा।

लेकिन जब कि मिस्र तथा सीरिया के शासकों ने भारत के साथ व्यापार के सभी लाभ अपनी प्रजा के लिए सुनिश्चित करने का जोश और उत्साह से प्रयास किया, पश्चिम में एक शक्ति का उदय हुआ जो दोनों के लिए घातक सिद्ध हुई। रोमवासी अपनी फौजी

1. डब्ल्यू. राबर्टसन, 'डिस्क्विजिशन', पृष्ठ 37

शक्ति और राजनैतिक चेतना के द्वारा इटली व सिसली के स्वामी बन गये और शीघ्र ही विरोधी कारथेग गणतंत्र का तख्ता पलट दिया। उन्होंने ई.पू. 55 मेसीडोनिया तथा यूनान को अपने अधिकार में ले लिया और सीरिया तक अपना साम्राज्य बढ़ा लिया और अंत में मिस्र को जीतने के लिए मिस्र के विरुद्ध हथियार उठा लिये जो सिकंदर-ए-आजम के उत्तराधिकारियों द्वारा स्थापित राज्यों में से बचा एकमात्र राज्य था।

मिस्र की अधीनता के बाद, भारत से लाभप्रद व्यापार, रोम में किये जाने लगा। लेकिन यही एकमात्र रास्ता नहीं था। भारत की चीजें, पश्चिम में ले जाने के लिए एक अन्य व्यापारिक मार्ग भी था। यह एक स्थलीय मार्ग था, जिसे सोलोमन ने भारतीय व्यापार को जूडिया में केंद्रित करने के लिए, नियत किया था। यह मार्ग टैडमोर या डालमाइरा नगरों से गुजरता था, जो यूफ्रेटिस तथा भूमध्य सागर के बीच स्थित थे। रोमवासियों द्वारा सीरिया की अधीनता के बाद, पालमाइरा स्वतंत्र हो गया और अच्छी आबादी वाले संपन्न शहर के रूप में उभरने लगा। वह एक वितरण केंद्र बन गया। लेकिन रोमवासियों के लोभ की कोई सीमा नहीं थी। जेनोबिया की ओर से, पालमाइरा की रानी द्वारा, जरा-सी अनबन का संकेत मिलते ही, रोमवासियों ने उस शहर पर कब्जा करके, उसे अपने साम्राज्य में शामिल कर लिया।

लेकिन भारत के व्यापार पर एकाधिकार करने के लिए पालमिरा का अपने राज्य में मिलाना ही काफी नहीं था। पूर्व में एक और समान रूप से शक्तिशाली राज्य का उदय हो रहा था। पार्थियान्स ने मध्य एशिया पर अधिकार कर लिया था और अपने साम्राज्य की सीमाएँ रोम तक फैला ली थीं। पार्थियान और रोम के बीच लड़ाई 55 से 20 ई.पू. तक चली किंतु प्रभुत्व का निर्णय नहीं हो सका। 55 से 20 ई.पू. के युद्ध के कारण दोनों साम्राज्यों ने एक-दूसरे के सम्मुख गर्दन झुका दी तो एबीसीनिया उसी अनुपात में फलने-फूलने लगा जिसमें उसके पुराने शत्रु का पतन हुआ। यदि यही स्थिति चलती रहती तो बाद का घटनाक्रम बदल जाता। इस्लाम का उदय ही न हुआ होता और वृहद रोम ने थेम्स से गंगा तक अपने साम्राज्य और कानून एवं सरकार को फैला लिया होता। लेकिन इतिहास के तर्क बहुत शक्तिशाली होते हैं। धीरे-धीरे वह खजाना जो रोम के हाथ लगा था जीते गये प्रांतों के विद्रोह को दबाने में, और अपने देश में गृह युद्ध को दबाने में तथा पूर्व के साथ प्रतिकूल व्यापार असंतुलन होने के कारण पूर्व को भुगतान करने में खर्च होने लगा। इस प्रतिकूल व्यापार संतुलन के कारण रोम की अर्थव्यवस्था पर बहुत प्रतिकूल प्रभाव पड़ा क्योंकि रोम ने उत्पादन अथवा उद्योग में कोई सराहनीय प्रगति नहीं की थी जिससे कि नये धन का सृजन किया जा सकता।[1]

जहाँ तक भारत के साथ रोम के व्यापार का सम्बन्ध है, हमारे पास जानकारी के भंडार हैं यद्यपि वे विवाद रहित नहीं हैं।

---

1. लुप्त

पहले प्रकार का सबूत है भारत तथा श्रीलंका से रोम को भेजे गये राजदूतों की संख्या।

पहला राजदूत श्रीलंका से आया। इसका उल्लेख प्लिनी ने किया है। इसकी निश्चित तिथि निर्धारित करना असंभव है, किंतु परिस्थिति के साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि यह घटना 41 और 54 ई.पू. के बीच हुई। यह राजदूत क्लौडिस भेजा गया था जो वहाँ उस समय पहुँचा जब रोम के इतिहासकार एग्रीप्पिना के षड्यंत्रों और मैसालीना की मृत्यु जैसी गम्भीर घटनाओं में इतने व्यस्त थे कि वे इसका पर्याप्त उल्लेख नहीं कर सके। यह राजदूत श्रीलंका के राजा चंद्र मुक सिवा द्वारा भेजा गया था जिसने 44 से 52 ई. तक शासन किया।[1] इसके बाद और राजदूत भेजे गये। दूसरा राजदूत 107 ई. में ट्रोजन पहुँचा, तीसरा 138 ई. में एंटोनियस पिपस, चौथा 361 ई. में जुलियन, तथा पाँचवा 530 ई. में जैस्टिनिया पहुँचा। भारतवासियों ने इन राजदूतों का कोई जिक्र नहीं किया है। रोम के इतिहासकारों ने इनका उल्लेख किया है, लेकिन बहुत ही संक्षिप्त ब्यौरा दिया है। इसलिए इन राजदूतों के उद्देश्यों के विषय में कुछ कहना कठिन है। तथापि इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत और रोम के बीच निरंतर सक्रिय सम्बन्ध बने रहे और सर्वियस तथा उसके पुत्र कोमोडस के शासनकाल में जब अलेक्जेंड्रिया तथा पालमिरा दोनों वाणिज्य में व्यस्त थे और खुशहाल थे, रोम के भारत के साथ सम्बन्ध सर्वोच्च शिखर पर थे। उस समय रोम के साहित्य में भारत के मामलों की ओर अधिक ध्यान दिया गया और पहले की भाँति इसे सिकंदर के इतिहासकारों के उदाहरणों अथवा सेलेयूसीडियन राजदूतों के विवरणों तक सीमित नहीं रखा गया, बल्कि इसमें दूसरे स्वतंत्र स्रोतों से भी जानकारी एकत्र की गयी।[2]

साहित्यिक प्रवृति के दूसरे सबूत भी इसी निष्कर्ष को बल देते हैं। डॉ. हीर्थ ने अपने "चायना एंड द रोमन ओरियंट" में सुंग शू, जो कि एक चीनी इतिहासकार था और जिसने 420-478 ई. के बारे में इतिहास का उद्धरण देते हुए कहा है कि जहाँ तक टाटसिन (सीरिया) और ईनचू (भारत) का प्रश्न है, जो पश्चिमी समुद्र में बहुत दूर स्थित है, हमें यह कहना है कि "यद्यपि दोनों 'हन' राजवंशों के राजदूतों को इस मार्ग में विशेष कठिनाइयाँ हुईं फिर भी माल का लेन-देन होता रहा तथा माल विदेशी कबीलों को भेजा जाता रहा और हवा के वेग से समुद्र के रास्ते माल बहुत दूर तक पहुँचता रहा। वहाँ की ऊँची पर्वतमालाएँ हमें ज्ञात पर्वतमालाओं से भिन्न हैं तथा अनेक प्रकार के कबीले जिनके नाम हैं और असाधारण पद नाम हैं हमसे पूर्णतः भिन्न प्रकार के हैं। भूमि तथा समुद्र के बहुमूल्य उत्पाद उनके यहाँ हैं, गेंडों के सींगों से बने आभूषण और

1. देखिए जे.आर.एस. खंड-28, पृष्ठ 349-350
2. देखिए जे.आर.ए.एस. खंड-19, पृष्ठ 276
3. देखिए जे.आर.ए.एस. खंड-19, पृष्ठ 307

पुखराज, सर्प, मणि और एसवेस्टास के कपड़े, असंख्य प्रकार की आश्चर्यजनक वस्तुएँ और साथ ही संसार के स्वामी (बुद्ध) की उपासना में मन लगाने की शिक्षा इन सभी बातों के कारण इन भागों में जहाजरानी और व्यापार का विस्तार हुआ है।"

एक और चीनी इतिहासकार मतोआनलिन ने प्राचीन काल सम्बन्धी अपने शोधों में कहा है कि "भारत (500-516 ई.) का समुद्र के रास्ते समुचित मात्रा में टास्टिन, रोम साम्राज्य तथा आन्सी या एसी के साथ काफी व्यापार होता था।[3] एक कुशाग्र बुद्धि लेखक ने कहा है कि पालमिरा के नष्ट होने के पश्चात् भारत तथा रोम के मध्य कभी सीधा व्यापार नहीं हुआ। उनका कहना है कि रोमवासियों ने अपना व्यापार केन्द्र इथोपिया के मुख्य बंदरगाह अदुले में स्थापित किया और यद्यपि कान्सेंटाइन के समय वहाँ आर्थिक सम्पन्नता थी फिर भी रोम का व्यापार अदुले से आगे बाहर कभी नहीं बढ़ा।

परन्तु पुरातत्व सम्बन्धी अन्वेषणों तथा ऐतिहासिक संदर्भों से दूसरे ही निष्कर्ष निकलते हैं। श्री विन्सैंट स्मिथ के अनुसार "यह मानने के प्रबल कारण हैं कि व्यापार में लगे रोम के लोगों के काफी बड़े उपनिवेश हमारे युग की पहली दो शताब्दियों में दक्षिण भारत में बसाये गये और यूरोप के सिपाही जिन्हें बलवान यवन कहा जाता था, और हथियारों से लैस गूँगे म्लेच्छ (बर्बर) जामाल राजाओं के अंगरक्षक के रूप में काम करते थे, जबकि यवनों के पानी के जहाज मिर्च लेने के लिए मुजरीस (क्रंगलोर) जाते थे जिसके लिए उन्हें रोमन स्वर्ण में भुगतान होता था।[1] यहाँ केवल रोम के व्यापारियों की ही बस्तियाँ नहीं थीं बल्कि रोम के सिपाही मांडचा तथा अन्य तमिल के राजाओं की सेवा करते थे।[2] और पांडया-आरयप्पादायी-कडरेथा-नेदुन्ज- चैलियान के शासनकाल में रोम के सिपाहियों को मदुरै के किले की रक्षा करने के लिए रखा जाता था।[3] मुद्रा सम्बन्धी सबूत भी यह साबित करते हैं कि रोम और भारत के बीच घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध थे। (पांडुलिपि का आधा पृष्ठ खाली छोड़ा गया है- सं. पादक)।

रोम और भारत के बीच इन व्यापारिक सम्बन्धों का कारण यह है कि "मार्क एंटोनी के समय से लेकर जुस्टीनियन के समय तक अर्थात् (30 ई.पू. से 550 ई. तक) पार्शियों और ससानियनों के विरुद्ध संधिबद्ध राष्ट्रों के रूप में उनका राजनीतिक महत्त्व और पूर्व तथा पश्चिम के बीच एवं मुख्य मार्ग के नियन्त्रक के रूप में उनके वाणिज्यिक महत्त्व ने कुशों और शकों की मैत्री को जिनका सिंधु घाटी और बैक्ट्रिया पर कब्जा था, रोम के लिए बहुत महत्त्व का विषय बना दिया।[4]

---

1. अरली हिस्ट्री ऑफ इंडिया, पृष्ठ 400-401
2. मुखर्जी के 'इंडियन शिपिंग' में पृष्ठ 128 में उद्धृत
3. वही, पृष्ठ 128 में उद्धृत
4. वही, पृष्ठ 139 में उद्धृत

भारत के विदेशों के साथ व्यापार का यह संक्षिप्त ब्यौरा देने के बाद अब हम व्यापार की वस्तुओं, व्यापार मार्गों तथा भारत के महत्त्वपूर्ण पत्तनों पर विचार करेंगे।

दि पेरीप्लस, पटोलेमी लिखित भूगोल तथा ईसाई टोपोग्राफी व्यापार की वस्तुओं तथा भारत के महत्त्वपूर्ण पत्तनों के बारे में जानकारी के मुख्य स्रोत हैं।

दि पेरीप्लस के अनुसार निम्नलिखित वस्तुओं का निर्यात किया जाता था : (1) जटामांसी, (2) कोरटस, (3) गुग्गुल, (4) हाथी दाँत, (5) क्यूगेट, (6) लाइसीरेग, (7) सभी प्रकार के सूती कपड़े, (8) रेशमी कपड़े, (9) एक प्रकार के जंगली पौधे से बने कपड़े, (10) धागा, (11) पिपरामूल, (12) हीरे, (13) नीलमणि, (14) कर्पर, (15) सभी प्रकार के पारदर्शी पत्थर, (16) मोती, (17) मालावथरूम, (18) सुगंध, (19) नील। जिन वस्तुओं का आयात होता था उनका विवरण है, (1) शराब, (2) ताँबा, (3) टीन, (4) सीसा, (5) मूंगा, (6) सभी प्रकार का पतला तथा घटिया कपड़ा, (7) बनमोथी, (8) कठोर तथा अपरिष्कृत शीशा, (9) सुरमा, (10) सोने चाँदी के सिक्के जो अनुकूल व्यापार संतुलन की देन थे।

दि पेरीप्लस या हिंद महासागर की मैरीन गाइडबुक में भारत के पत्तनों का उल्लेख है जहाँ से व्यापार होता था – (1) बरीगजा या वर्तमान भड़ौच जो पश्चिमी भारत का मुख्य व्यापारिक केन्द्र था। इसमें भड़ौच से जुड़े भारत के दो कस्बों का उल्लेख है अर्थात् पैयाग और तागरा, (2) सूपरा – आधुनिक सुपारा जो बसीन के पास है, (3) कोलीयन – वर्तमान कल्याण, (4) सैमुल्ला संभवतया आधुनिक चैंबूर, (5) मंडागोरा, (6) प्लाइमतामी, (7) मेलजीगारा, (8) टाइनडिस, (9) मुजीरिस, (10) नैलकियंडा।

'पटोलमी का भूगोल' में सिंध नदी के मुहाने से लेकर गंगा नदी के मुहाने तक समुद्री तट का वर्णन किया गया है और इसमें व्यापारिक महत्त्व के कई कस्बों तथा पत्तनों का उल्लेख है। ये पत्तन हैं – साइरास्त्र (सूरत), गुजरात में मोनोग्लासम (मंगरोल), आरिआके (महाराष्ट्र), सौपारा, मुजीरिस, बकरेई, मैसोली (मछलीपट्टनम), कोनागरा और अन्य।[1]

कुछ तमिल कवियों ने बड़े सुन्दर ढंग से दक्षिण भारत के व्यापारिक पत्तनों तथा नगरों का वर्णन किया है। एक कवि का कहना है "हरा-भरा नगर मुचीरी जहाँ यवनों के सोने से लदे सुन्दर तथा बड़े जहाज केरल के पेरीप्लस पत्तन जो चेरला में हैं, पर सफेद झाग फैलाते हुए आते हैं और काली मिर्च से लद कर लौटते हैं" एक अन्य कवि का कहना है कि 'मछली के बदले धान दिया जाता है, जिसे टोकरियों में भर कर घर लाया जाता है। मिर्च के बोरे घरों से बाजार तक लाए जाते हैं। बेची गयी वस्तुओं के बदले जहाजों से प्राप्त हुआ सोना

1. आर.के. मुखर्जी, 'इंडियन शिपिंग', पृष्ठ 134
2. आर.के. मुखर्जी, 'इंडियन शिपिंग', पृष्ठ 135

नावों से मुचीरी के किनारे लाया जाता है जहाँ समुद्र की लहरों की आवाज कभी बंद नहीं होती और जहाँ केरल के राजा कुडडुवन (चेरा राजा) आगन्तुकों को समुद्र तथा पहाड़ों की अद्‌भुत वस्तुएँ भेंट करते हैं।[2] कवि रीपड्डीनम या पुकार का विवरण भी उतना ही महत्त्वपूर्ण तथा प्रेरणादायक है। इसे कावेरी नदी के उत्तरी तट पर बनाया गया था। तब एक चौड़ी और गहरी नदी आती है जिसमें भारी लदे जहाज अपनी गति धीमी किये बिना प्रवेश कर आते हैं। इस नगर को दो भागों में विभाजित किया गया था। एक भाग मारूवर पक्कम, समुद्र तट से सटा था। मारूवर पक्कम में समुद्र तट के पास प्लेटफॉर्म, गोदाम और माल गोदाम बनाये गये थे जहाँ जहाजों से उतारी गयी खाद्य सामग्री रखी जाती थी। यहाँ सीमा शुल्क के भुगतान के पश्चात् माल पर चोल राजा के शेर के चिह्न वाली मुहर लगाई जाती थी और माल, व्यापारियों के गोदामों में भेज दिया जाता था। पास ही विदेशी यवन व्यापारियों की बस्तियाँ थीं जहाँ अनेकों वस्तुएँ सदैव बिक्री के लिए रखी जाती थीं। यहाँ यवन (विदेशी) व्यापारियों के प्रधान कार्यालय भी थे जो समुद्र पार से आये थे और विभिन्न भाषाएँ बोलते थे। माराबार-पत्कम में खुशबूदार पेस्ट और पाउडर, फूल तथा इत्र के विक्रेता दर्जी जो रेशम, ऊन व सूती कपड़ों की सिलाई करने वाले दर्जी थे, चन्दन, मीना, मोती, सोना तथा कीमती पत्थर के व्यापारी, अनाज के व्यापारी, मछली, चारा विक्रेता, कसाई, लोहार, बढ़ई, ठठेरे, चित्रकार, सुनार, मोची व खिलौना बनाने वाले भी रहते थे।[1]"

भारत और पश्चिम के बीच व्यापार मार्गों को दो शीर्षकों में बाँटा जा सकता है अर्थात् (1) भू मार्ग और (2) समुद्री मार्ग।

यह सच ही कहा गया है कि व्यक्तिगत तौर पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना सभ्य लोगों की आदत है। प्राचीन लोग प्रबल सामाजिक प्रवृत्ति के कारण अथवा सुरक्षा के अभाव के कारण सदैव समूहों में आवागमन करते थे। यह आदत उनके व्यापार की शैलियों में अच्छी तरह प्रदर्शित होती है। चूँकि वे फेरी लगाते थे उनको इस बात का डर नहीं था कि प्रतिस्पर्धा के कारण उनकी बिक्री कम हो जाएगी। पहले व्यापारी प्रतिकूल परिस्थितियों में अपने लदे हुए पशुओं के साथ कारवाँ में एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते थे, परन्तु आज के आरामपरस्त व्यक्ति, उसे व्यापार का शौक कितना ही क्यों न हो, ऐसी कठिनाइयाँ सहने के बजाय धन संपत्ति प्राप्त करने का इरादा छोड़ देगा। व्यापारियों के समूह के बारे में हरबर का कहना है- "व्यापारी स्वेच्छा से किसी मार्ग पर नहीं जाते थे, अपितु यह एक प्रथा बन गयी थी। उन्हें जिन रेतीले रेगिस्तानों में से होकर जाना पड़ता था, प्रकृति ने उनमें व्यापारियों के लिए कहीं-कहीं विश्राम स्थल भी बना दिए थे जहाँ खजूर के वृक्षों की छाया और ठंडे झरनों के पास व्यापारी

1. आर.के. मुखर्जी, 'इंडियन शिपिंग', पृष्ठ 135-136
2. कलकत्ता रिव्यू, खंड 19, पृष्ठ 345 में उद्‌धृत

तथा उनके जानवर थकान के बाद ताजा हो सकते थे। विश्राम करने के ये स्थान वाणि ाज्य के मुख्य केन्द्र बन गये और वहाँ जगह-जगह पर मन्दिर तथा देवालयों का निर्माण किया गया जिनकी सुरक्षा में व्यापारी अपना व्यापार करते थे और जहाँ यात्री तीर्थ के लिए जाते थे।"[1] इन परिस्थितियों के कारण व्यापारियों का मार्ग कभी भी सीधा नहीं होता था, यह सदैव टेढ़ा-मेढ़ा होता था। प्राचीन व्यापार के मानचित्रों को देखें तो हम छोटी-छोटी सड़कों का जाल पाएँगे जो कई स्थानों पर एक-दूसरे से मिलती है और एक-दूसरे को काटती हैं। तथापि, हम भारत से भूमध्य सागर तक दो मुख्य व्यापार मार्ग पाते हैं। एकदम उत्तरी मार्ग आक्सस नदी के साथ-साथ जाता है और कैस्पियन सागर के उत्तरी बंदरगाह का घेरा डालते हुए काले सागर की ओर मुड़ते हुए कुस्तुनतुनिया तक जाता है। मध्य का मार्ग कुछ हद तक अनेक विभाजनों के बावजूद सीधा जाता है। यह कैस्पियन सागर के दक्षिण मुहाने से आरम्भ होता है और टैवरिज, इरज्बैम, ट्रैबीजोन्द और काला सागर से होता हुआ कुस्तुनतुनिया पहुँचता है। भारत तथा पश्चिम के बीच ये दो व्यापार मार्ग थे।

दो समुद्री मार्ग भी थे यद्यपि उनमें से एक मार्ग आधे फासले तक ही समुद्री मार्ग था। इनमें से एक लाल सागर का मार्ग था। भारत के पत्तनों से जहाज हिन्द महासागर को पार करके या तो दक्षिण अफ्रीका जाते थे या ऊपर को चल कर दक्षिणी अरब तथा अदन के पत्तनों को छूते हुए सैंट ऑफ बाबैल मानडैब (गेट ऑफ टीयर्स) होकर लाल सागर से गुजरती हुई, अरब सागर के तट जैदा और मिस्र के तट बरनिस होते हुए जाते थे। बरनिस से व्यापारियों द्वारा माल थैब्स और कोस ले जाया जाता था जहाँ से नील नदी के रास्ते उसे अलेक्जेंड्रिया पहुँचाया जाता था और वहाँ से यूरोप ले जाया जाता था। दूसरा समुद्री मार्ग फारस की खाड़ी होकर जाता था। भड़ौच से जहाज चल कर तट के साथ-साथ मस्कट तथा ओसून पहुँचते थे और वहाँ से ओमन की खाड़ी होते हुए बसोरा पहुँचते थे। फारस की खाड़ी स्थित बसोरा से व्यापारियों द्वारा माल कारवाँ में यूफ्रेटस और टिगरिस के तटों से साथ बेबीलोनिया से भूमध्य सागर में स्थित एन्टीओच ले जाया जाता था।

ये समुद्री मार्ग वर्तमान काल तक चलते रहे, लेकिन भूमि-व्यापार मार्गों की कहानी पूर्णतः भिन्न है। ये एक बार बंद हुए तो सदा के लिए बंद हो गये। पहले इसके बंद होने का इतिहास संभवतया एशियाई महाद्वीप की केवल एक ऐसी घटना है, जिसने यूरोप के इतिहास को गम्भीर रूप से प्रभावित किया।

अध्याय 2

मध्य युग में भारत के व्यापारिक सम्बन्ध
अथवा
इस्लाम का उदय और पश्चिमी यूरोप का विस्तार

जिस समय रोम में ग्रेगोरी महान के अधीन पोप की सत्ता का प्रभाव बढ़ा, उसी समय इस्लाम का उदय हुआ। यह राज्यों का युग था और पूर्व से एक बार फिर धर्म प्रचार की लहर फैली जो सम्पूर्ण यूरोप महाद्वीप को मुसलमान बनाने में प्राय: सफल हुई अफ्रीका, एशिया और अनेक बड़ी चीजों की तो बात ही छोड़िए इसका उदय छोटी जगह से हुआ।

मुहम्मद के जन्म से बहुत पहले अरब में विभिन्न कबीले रहते थे और वे पूर्व तथा पश्चिम के बीच व्यापार का माध्यम होने के कारण काफी संपन्न थे। अरब के लोगों की इस खुशहाली का प्रमाण पेटा से डमास्कस के बीच नष्ट हो गये शहरों के खंडहरों से मिलता है। किंतु स्ट्रावों के अनुसार अरब लोगों की सम्पन्नता का यह स्रोत शीघ्र समाप्त हो गया जब रोम के लोगों ने भारत से सीधा व्यापार करना आरम्भ कर दिया। भारत तथा अरब का माल लाल सागर के पश्चिमी तट पर माओस हीरमोस में पहुँचता था और वहाँ से ऊँटों से थैब्स पहुँचता था फिर उसके बाद वहाँ से समुद्र द्वारा अलेक्जेंड्रिया जाता था। इसके परिणामस्वरूप अरब "रेगिस्तान के सच्चे सपूत" बन गये थे।

आर्थिक दृष्टि से अरब की तरह कोई अन्य देश निर्धन नहीं हैं। गिब्बन के अनुसार अरब रेतीला, पथरीला तथा खुशहाल देश है। कृषि भूमि व पानी की कमी के कारण अरब के लोग एक स्थान पर नहीं बस सके। वे घुमंतू तथा कबीली बने रहे और धर्म तथा राजनीति के मामले में एक नहीं हो सके। एकता न होने के कारण अरब लोगों को विदेशी आक्रमणकारियों ने कई बार रौंद डाला। एबीसीनियन्स परसिपन्स, मिस्र के सुलतान तथा तुर्को ने बारी-बारी यमन राज्य को अपने अधीन किया। निर्दयी सीथियन्स ने मक्का व मदीना के पवित्र स्थानों की निष्ठा की माँग की और अरब आंशिक रूप से रोम साम्राज्य का प्रांत बन गया। परंतु कोई भी स्थाई तौर पर अरब को दबा न सका

और उन्होंने सैसोस्ट्रिस, साइरस, पोम्बे और ट्रोजन जैसे शक्तिशाली राजाओं का शासन पलट दिया। अरबों में स्वतन्त्रता की इस भावना के कारण उनके भौगोलिक आवास में देखने को मिलते हैं।

अरब लोगों के धार्मिक अनुष्ठान आडम्बरहीन तथा कलाविहीन होने के कारण इसमें शामिल पुरा विद्या अथवा उच्च दार्शनिक चिंतन का कोई स्थान नहीं था। अरब के लोगों तथा भारतीयों के धर्म में सूर्य की पूजा, चंद्रमा की पूजा तथा अचल सितारे थे।[1] प्रत्येक कबीला, प्रत्येक परिवार व प्रत्येक स्वतन्त्र योद्धा अपनी काल्पनिक पूजा के पात्र तथा अनुष्ठानों का चयन अपने ढंग से करता था तथा उनमें परिवर्तन करता था, किंतु राष्ट्र ने प्रत्येक युग में मक्का की भाषा व धर्म के आगे अपना सिर झुकाया।[2] गैर-मुसलमानों के धर्म में परिवर्तन का काम कोई कठिन नहीं था, क्योंकि वे गैर-ईसाई अरबी उत्तर में और दक्षिण में नजरान में ईसाइयों के साथ शान्तिपूर्वक रह रहे थे। यहूदी समुदाय उत्तर पूर्व में रहते थे और पारसी फारस की खाड़ी के पास शान्तिपूर्वक रहते थे। इस समीपता के परिणामस्वरूप विचारों का आदान-प्रदान होने से मुहम्मद के जन्म से बहुत पहले अरब के लोग एक ही ईश्वर में विश्वास करने लग गये और हनीफ इसका प्रतीक है।

हनीफी आंदोलन से प्रभावित होकर अथवा अन्यथा मुहम्मद ने जो ऊँट चालक था, पतित अरब लोगों की जो आपस में लड़ते रहते थे और काबा में अनेकों देवी मूर्तियों के समक्ष मनुष्यों की बलि दिया करते थे, दशा सुधारने की योजना बनाई। किसी व्यक्ति ने इतने कम साधन होने पर पैगम्बर होने का दावा नहीं किया, किंतु उसने हिम्मत तथा विश्वास के साथ इस्लाम के नाम से जिस धर्म का अपने परिवार तथा राष्ट्र में प्रचार किया, वह एक शाश्वत सत्य है। और यह सत्य इस प्रकार है कि ईश्वर केवल एक है और मुहम्मद ईश्वर का पैगम्बर है। मुहम्मद के जन्म के समय के हालात उनके पैगम्बर होने की घोषणा के अनुकूल प्रतीत होते हैं।[3] यह याद किया जाएगा कि अरब में बहुत से कबीले रह रहे थे और सभी समान रूप से स्वतन्त्र थे। तथापि ये सभी कबीले के कुरेशी कबीले सम्मान में एक हो गये जिसने गलत अथवा सही तरीकों से काबा के स्मारक पर अधिकार जमा लिया और काबा में पुरोहिताई का काम हाशमी के परिवार विशेष रूप से मुहम्मद के दादा को मिला। अरब के लोगों में अपनी उच्च स्थिति का लाभ उठा कर मुहम्मद ने एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रचार करना आरम्भ कर दिया। मुहम्मद के सिद्धान्त में कुछ भी नया नहीं है जो वास्तव में पैगम्बर का अपना हो। उनका कुरान यहूदी धर्म तथा ईसाई धर्म के बीच का मध्य भाग

1. गिब्बन, 'डिक्लाइन एंड फाल ऑफ दी रोमन एम्पायर' खंड 5, पृष्ठ 327
2. वही – पृष्ठ 327-328
3. वही – पृष्ठ 337

है। उनके उपदेशों का जो भी महत्त्व हो, अरब के लोगों ने उनको बैर की भावना से देखा। यहाँ तक कि हाशमी अपने ही लोगों की दृष्टि में गिर गया। मुहम्मद के मिशनरी जोश से अरब के लोगों का लचीलापन बढ़ा, जैसा कि आजकल मिशनरी प्रचार के कारण हिन्दुओं का हठीलापन बढ़ गया है। अधीन होकर अरब के लोगों ने मुहम्मद को बाहर निकालने के लिए हाशमियों को बाहर किया, जिसके जीवन को ही खतरा हो गया था। मुहम्मद ने अपना ध्यान मदीना पर केन्द्रित किया किन्तु उन्हें यहाँ निश्चय नहीं था कि उनको वहाँ स्वागत मिलेगा। अतः उन्होंने मक्का में अपने शिष्यों के माध्यम से मदीना के लोगों से बातचीत की। उनकी कृपा के सम्बन्ध में आश्वस्त हो जाने पर वह मदीना में रहने लगे और अपने नये तथा प्रिय धर्म को नष्ट होने से बचा लिया, जो निश्चित तौर पर अपनी आरम्भिक अवस्था में ही नष्ट हो गया होता, यदि मदीना ने विश्वास तथा आदर के साथ मक्का से निष्कासित लोगों को अपने गले न लगाया होता।[1] अतः मदीना में ठहरना मुहम्मद के लिए काफी लाभप्रद था। उनको पुरोहिती के साथ-साथ राजोचित तथा न्यायिक के साथ-साथ प्रशासनिक अधिकार मिल गये। वह एक धर्मदूत के साथ-साथ एक राजा भी बन गये और उन्हें धार्मिक तथा प्रशासनिक शक्ति प्राप्त हो गयी। स्वाधीन लोगों की पसंद ने मक्का से भाग कर आये व्यक्ति को एक शासक बना दिया और उसे सन्धि करने के विशेषाधिकार दिये गये। मानवीय अधिकारों की कमी पूरी की गयी प्रथा पर्याप्त ईश्वरीय शक्ति प्रदान की गयी। मदीना के पैगम्बर ने अपने नये उद्घाटनों में भीषण और खूंखार स्वर में विश्वास दिलाया जिससे स्पष्ट हो जाता है उनका पूर्ववर्ती आत्मसंयम कमजोरी के कारण था। अनुनय के तरीके अपनाए गये, सहनशीलता का समय समाप्त हो गया और अब उन्हें तलवार के बल पर अपने धर्म का प्रचार करने, मूर्तिपूजा के स्थान नष्ट करने और दिनों या महीनों की पवित्रता का विचार किये बिना पृथ्वी के विश्वास वाले राष्ट्रों को राजी करने का हुक्म हुआ था।[1] इस प्रकार एक स्थान मिल जाने पर उन्होंने अपने पंथ और राज्य का विस्तार आरम्भ कर दिया। अरबी, चूँकि व्यापारी और डाकू दोनों ही थे, इसलिए मुहम्मद के शिष्य मदीना होकर जाने वाले कुरैश के व्यापारियों को परेशान करने लगे। इससे उत्तेजित होकर कुरैशियों ने मदीना के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। कुछ समय तक तो मुहम्मद अपना बचाव करता रहा किन्तु थोड़े समय पश्चात् उसने आक्रामक कार्यवाही आरम्भ कर दी और अपने जन्म-स्थान पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार उसने अपनी फौजी शक्ति व साधन दोनों को बढ़ा लिया। मुहम्मद के शत्रुओं के समक्ष मैत्री, समर्पण अथवा युद्ध के विकल्प रखे गये। यदि वे इस्लाम धर्म अपना लेते थे तो उन्हें आरंभिक शिष्यों की भाँति सभी सांस्कृतिक

1. गिब्बन, 'डिक्लाइन एंड फाल ऑफ दी रोमन एम्पायर' खंड 5, पृष्ठ 356
2. गिब्बन, 'डिक्लाइन एंड फाल ऑफ दी रोमन एम्पायर' खंड 5, पृष्ठ 359

और आध्यात्मिक लाभ मिलते थे और जो धर्म उन्होंने अपनाया था उसके प्रसार के लिए उसी झंडे के नीचे चलते थे।[1] इस प्रकार अपने शिष्यों को जीत के लिए तैयार करके मुहम्मद ने अपना मिशन अपने उत्तराधिकारी खलीफों पर छोड़ दिया। अली को वीरोचित उत्साह के उत्कृष्ट विवेक ने उनकी प्रजा को उनका अनुकरण करने के लिए प्रेरित किया और कलह की विचारधाराओं से प्रेरित प्रतिभाओं का पैगम्बर के पंथ और प्रभुत्व का प्रचार करने के लिए अधिक उपयोगी ढंग से प्रयोग किया गया। उमासकस के महल की काहिली तथा मिथ्या मिसाल के कारण भवन के उत्तरवर्ती ओमियाह के राजकुमारों में अच्छे राजनेताओं और सन्तों के गुण नहीं रहे। फिर भी अज्ञात राष्ट्रों से लूट का माल उन्हें लगातार मिलता रहा। फिर भी अरब की महानता में निरंतर वृद्धि होने का कारण यह नहीं है बल्कि इसका कारण उनमें राष्ट्रीयता की भावना होना है। इसका एक मुख्य कारण उनके शत्रुओं का कमजोर होना है। मुहम्मद का जन्म सौभाग्य से ऐसे समय हुआ जब पारसी, रोमन और यूरोप के क्रूर लोग काफी पतित और अव्यवस्थित हो गये थे। ट्राय, किसुतुंनतुनिया या चारलेमैवाने साम्राज्य ने अरब के खानाबदोश लोगों और धर्मान्धिता को मार भगाया होता और मतान्धता की लहर अरब के रेगिस्तान में खो गयी होती। उसी उत्साह तथा सफलता के साथ उन्होंने औगस्टस तथा आरटैक्सरेक्टस के उत्तराधिकारियों पर आक्रमण किया और उसी समय विरोधी राजतन्त्र एक ऐसे शत्रु के शिकार हो गये जिनको वे तुच्छ समझते रहे। ओमर के दस वर्ष के प्रशासन में अरब के खानाबदोश लोगों ने छत्तीस हजार नगर या किले अपने अधीन कर लिये। उनके धर्म में विश्वास न रखने वाले लोगों के चौदह हजार गिरिजाघर अथवा मन्दिर नष्ट कर दिये और मुहम्मद के धर्म के लिए प्रयोग में लाने हेतु चौदह हजार मस्जिदों का सुधार किया। उसके मक्का आने के एक सौ वर्ष बाद उसके उत्तराधिकारियों के शस्त्र शासन भारत से अटलांटिक समुद्र तक बहुत से दूरवर्ती प्रांतों तक फैल गये जिनके नाम हैं : (1) परसिया, (2) सीरिया, (3) मिस्र, (4) अफ्रीका और (5) स्पेन।[1] मुसलमानों के इस बड़े साम्राज्य में आगस्टय और एन्होसाइन की सरकार में सहज आज्ञाकारिता का प्रचार हो गया था। फिर भी मुहम्मद के धर्म का प्रमुख प्रभाव इस बड़े क्षेत्र में फैल गया। कुरान की भाषा तथा कानून का समरकन्द तथा सवले में पूरी लगन से अध्ययन किया जाता था। अफ्रीका तथा भारत के लोग देशवासियों तथा भाइयों की भाँति मक्का की तीर्थ यात्रा पर जाने लगे और अरबी भाषा का टिगरी नदी के पश्चिम की ओर सभी प्रांतों में आम भाषा के रूप में प्रयोग किया जाने लगा।[2]

अरब के व्यापार में जो कुछ भी विस्तार हुआ वह धार्मिक कारणों से हुआ, लेकिन

1. गिब्बन, 'डिक्लाइन एंड फाल ऑफ दी रोमन एम्पायर' खंड 5, पृष्ठ 401
2. वही, पृष्ठ 493

आर्थिक दृष्टि से इसका विश्लेषण करें तो भी इसी बात की पुष्टि होती है। एक प्रसिद्ध लेखक का कहना है कि "अरबों का एकदम उमड़ पड़ना स्पष्ट रूप से अकस्मात् था। पिछली कई शताब्दियों से अरब के लोग दूसरे स्थानों पर बसने की तैयारी कर रहे थे। यह अंतिम बड़ा सेमी देशान्तर था जो अरब के आर्थिक पतन से सम्बन्धित था। संक्षेप में मुहम्मद से बहुत पहले अरब अशान्ति की स्थिति में था तथा अरब के कबीले धीमी गति से लेकिन अनियोजित रूप से निकटवर्ती पारसी तथा रोमन राज्य क्षेत्रों में घुसपैठ कर रहे थे जहाँ उनकी मुलाकात वहाँ अरब से पहले गये सेमी लोगों अर्थात आरमेनिया के आदिवासियों से हुई जो वहाँ की जलवायु के बहुत पहले से अभ्यस्त हो गये थे।

अरब तथा धनलोलुपता, न कि धर्म ऐसी शक्तियाँ हैं जो आदमी को प्रेरित करती हैं लेकिन धर्म से आदमी को आवश्यक शक्ति मिलती है और वह उसे आवश्यक एकता प्रदान करती है। अरबों के धर्म का प्रसार, समय तथा अन्तर्वस्तु की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, लेकिन इसे एक राजनैतिक अनिवार्यता माना जा सकता है। इस्लाम द्वारा इसे पार्टी नारा तथा संगठन दिये जाने से काफी पहले ही यह आन्दोलन चल रहा था।"[1]

नए धर्म के प्रचार और तत्कालीन आर्थिक शक्तियों से प्रेरित होकर मुहम्मद के मक्का से पलायन के पश्चात् 46 वर्षों के भीतर मुसलमान बने नये-नये लोग हथियारों से लैस होकर किस्तुनतुनिया के पास पहुँचे और उसका घेराव कर लिया। (668-765 ई.) यह घेरा बिना किसी निर्णायक परिणाम के 7 वर्षों तक चला। घेरा डालने वालों ने किस्तुनतुनिया की शक्ति तथा संसाधनों का सही अनुमान नहीं लगाया। अपने धर्म तथा साम्राज्य को खतरे में पाकर रोमनों में भी जोश आ गया और उन्होंने अरब आक्रमणकारियों का अनुशासन में रहते हुए बड़ी संख्या में मुकाबला किया और इतनी वीरता दिखाई कि पूर्व और पश्चिम में उनके नागरिकों में नये जीवन का संचार हुआ और अरबी विजय प्राप्त नहीं कर सके। यदि वे किस्तुनतुनिया जीतने में सफल हो जाते तो ईसाइयों के भविष्य पर निश्चित रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता। अरब के लोगों ने किस्तुनतुनिया पर दूसरी बार आक्रमण किया और उसका घेरा डाल दिया। (716-718 ई.) लेकिन इस बार भी वही परिणाम रहे।

इन सभी विजयों के दौरान सेल्जुक मुसलमानों ने अरब लोगों की शक्ति धीरे-धीरे क्षीण कर दी। उनके उत्थान के समय बगदाद के अबबासिद खलीफा क्वैन को, पहले बूईद के शिया वंश ने और तत्पश्चात् अधिक शक्तिशाली फातिमी प्रतिद्वंद्वियों ने नीचा दिखाया। इन परिस्थितियों के कारण खलीफा ने सेल्जुक तुर्कों के उत्थान का स्वागत् किया, जिनसे रूढ़िवादी इस्लाम के समर्थक होने के कारण उसकी पूरी खोई सत्ता और

---

1. कैंब्रिज मिडिवल हिस्ट्री, खंड 2, पृष्ठ 331-332

प्रतिष्ठा उसे लौटाने की आशा की जाती थी। एक मुसलमान की दृष्टि से रूढ़िवादी इस्लाम की सत्ता पुनः स्थापित करने और अविवादी शियाई मन के क्रान्तिकारी प्रभाव से मुसलमानों को मुक्ति दिलाने से उनको यश ही मिला, क्योंकि शियाई मत इस्लाम के लिए न तो गम्भीर खतरा था और न ही सभ्यता को उनसे कोई डर था। उन्हें एक तटस्थ शक्ति समझा जाता था। उन्होंने ही फारसी और अरब लोगों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किये।[2] सेल्जुक के शासनकाल में तुर्की के खर्च पर तुर्की भाषा साहित्यिक स्मारक बनाना बहुत ही दुर्लभ हो गया था।[1] सेल्जुक मुसलमानों में कई कबीले और परिवार थे। उनमें से एक गुज के नाम से जाना जाता था। इन निरन्तर दावा करने वाले पक्षों में से गुज परिवार जो शेष परिवारों का कृपापात्र नहीं था, सत्ता में आ गया और निकटवर्ती मुसलमान प्रांतों के लिए खतरा बन गया। पीगू अर्सेताँ इजरायल के नेतृत्व में से ओक्स को पार करके फारस के पूर्वी प्रांतों में फैल गये। उन्होंने गजनबी राजा महमूद को मीरों की लड़ाई में 1040 में पराजित करके अपनी आजादी की घोषणा कर दी। शीघ्र ही सेल्जुक मुसलमान पूरे मध्य एशिया में प्रभावशाली हो गये ओर इनका प्रभाव हेलेसपांट तक फैल गया। "एल्पं आरसिया की महान विजय के पश्चात् जिसमें यूनानी राजा को बन्दी बना लिया गया। (1071) एशिया के द्वार तुर्की लोगों के लिए खुल गये। यही कारण है कि किस्तुलमिश जो अरसतन पिगू (इजराइल) का पुत्र था, उसके पुत्र सुलेमान के लिए हेलेसपांट तक, जिनमें गद्दी को लेकर आपस में विवाद था, विशेष रूप से रोम के दो शत्रुओं, एशिया में नाइसफोरस बरूनीस और यूरोप में नाइसफोरस बोंटासिएटस को बन्दी बना लिए जाने के पश्चात् बढ़ जाना आसान हो गया। पहले उसने सुलेमान से सहायता की अपील की और उसकी सहायता से कुस्तुनतुनिया लाया गया तथा राजगद्दी पर बिठाया गया।[1] थोड़े समय में उन्होंने एंटीवोच को जीत लिया। सीरिया राजतन्त्र को स्थाई बनाने के लिए और बड़ी शान से 1234 तक इतना आगे बढ़ गये कि प्रायः पूरा एशिया सेल्जुक्स साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया।

लेकिन आन्तरिक फूट और बाह्य आक्रमणों के कारण सेल्जुक साम्राज्य थोड़े समय तक ही रह सका। सेल्जुक साम्राज्य पर बाहर से आक्रमण करने वालों में सबसे आगे मंगोल थे। मंगोलों का प्राचीन इतिहास स्पष्ट नहीं है परंतु इसके बारे में जनश्रुतियाँ उपलब्ध हैं। मंगोलों के नायक चंगेजखाँ ने 1227 में किलियन घाटी में अपनी मृत्यु के समय अपने पुत्रों के लिए एक बड़ा साम्राज्य छोड़ा जो चीनी समुद्र से उनीपर के तटों तक फैला हुआ था।[2] चंगेजखाँ ने ओगदाई को अपना खाकन अथवा अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और अपने विस्तृत साम्राज्य के कुछ भाग अन्य दावेदारों को दिये। ओगदाई

1. विश्वकोश ब्रिटानिका 11वाँ संस्करण, लेख 'सेल्जुक्स'
2. विश्वकोश ब्रिटानिका 11वाँ संस्करण, लेख 'सेल्जुक्स'
3. वही, खंड 18, पृष्ठ 712 'मंगोल'

ने अपने साम्राज्य का विस्तार करने का प्रयास किया। एक बड़ी सेना लेकर उसने दक्षिण दिशा में चीन की ओर कियू राजतन्त्र को तबाह करने के लिए कूच किया, जो पहले ही बड़ी बुरी तरह डगमगा चुका था। तभी तुली ने शोंसी की ओर से होनान प्रांत में प्रवेश किया। इन दोनों के आक्रमण का कियू की सेनाओं ने डटकर मुकाबला किया, लेकिन मंगोलों के कौशल और उत्साह ने विरोधियों को परास्त कर दिया। उनके शवों के ढेर लगा दिये और उन्होंने अपने शत्रुओं की राजधानी काईफेंग फू पर कब्जा कर लिया। राज कोई फेंग फू से भाग कर जुनिंग फू चला गया। परंतु मंगोल सेना उसका पीछा करती हुई जल्दी ही वहाँ पहुँच गयी। भूख प्यास सहन करते हुए कुछ सप्ताहों तक कियू की सेना ने डट कर मुकाबला किया लेकिन अंततः उसे मंगोलों के सामने हथियार डालने पड़े और सम्राट ने फाँसी लगा कर अत्महत्या कर ली।[1] इससे संतुष्ट न होने पर ओगादी ने 1235 ई. में सुंग यंग से कियांग के दक्षिण और कोरिया में चीन के सुंग राजवंश के खिलाफ सेना भेजी।

पूर्वी एशिया में अपनी जीत सुनिश्चित करने के पश्चात् ओगेडी का ध्यान पश्चिमी एशिया की ओर गया। उसने 1236 ई. में जारजिया और ग्रेट आरमीनिया पर आक्रमण करके टिफलिस तथा फारस को अपने अधिकार में ले लिया और अपने भतीजे बाट के अधीन एक बहुत बड़ी सेना पूर्वी यूरोप भेजी। बाट ने बलगार की राजधानी रियाजन पर आक्रमण किया जिसने 21 दिसम्बर, 1237 को हथियार डाल दिये और उन पर इतने अत्याचार किये कि मरने वालों पर रोने के लिए एक आँख भी खुली न रही। उसने मरस्का और उसके बाद बलाडीमी और कोजेसक को जीत लिया, पोलैंड व हंगरी पर भी उसी प्रकार अधिकार कर लिया।

मंगोलों के उत्थान के साथ-साथ ओहोमेन्स के नाम से जाने जाने वाले तुर्की भी शक्तिशाली होते जा रहे थे। ये वे खानाबदेश कबीले थे जो सनगारिया के मैदान गोबी के रेगिस्तान के मध्य रहते थे। दंतकथाओं के अनुसार कारखान का पुत्र ओघुज ओहोमन तुर्कियों का जनक था। इतिहास में उनका पहली बार प्रादुर्भाव 1227 ई. में हुआ। उसी वर्ष दो हजार से चार हजार लोगों का एक गिरोह अपने साथियों तथा दासों के साथ जिन्हें मंगोलों के आक्रमण के दबाव के कारण मध्य एशिया में अपने घरों से निकाल दिया गया था और जिन्होंने कोनिया के सैलजुक सुलतान अदाउद्दीन कैकोबाद के पास व्यर्थ ही शरण ली थी, अपने सुलतान सुलेमान शाह के नेतृत्व में अपने देश को लौट रहे थे। वे यूफरेटस नदी को जो जावेर किले से ज्यादा दूरी पर नहीं थी, पार कर रहे थे कि अचानक उनके नेता के डूब जाने से उनमें घबराहट फैल गयी। जिन लोगों ने अभी नदी पार नहीं की थी उन्होंने इस

1. विश्वकोश, ब्रिटानिका, 11वाँ संस्करण, खंड 18, पृष्ठ 712 'मंगोल'
2. विश्वकोश, ब्रिटानिका, 11वाँ संस्करण, खंड 27, पृष्ठ 441-443

घटना के कारण नदी पार करने से मना कर दिया। चार सौ योद्धाओं के एक गिरोह ने डूब गये नेता के पुत्र ऐरटोघरूल की मातहती में रहने का निश्चय किया। ऐरटोघरूल ने पहले इरजैरूम के पूर्व में जैसिन में पड़ाव डाला। अदाउद्दीन से की गयी दूसरी अपील को अधिक सफलता मिली और अप्रवासियों की संख्या इतनी कम रह गयी कि उनसे उनको कोई खतरा नहीं रहा। नये आगंतुकों को अंगोरा के पास काराजाबाग की भूमि दे दी गयी जहाँ बड़े घास के मैदान तथा जोड़ के मकान थे। एरटोघरूल इस संकट के समय सेलुजुकी राजा को दी गयी सहायता से सागून उसकी जागीर बन गया और युद्ध क्षेत्र विधिवत उसके पास आ गया। एरटोघरूल की नब्बे वर्ष की आयु में 1288 में मृत्यु हो गयी। उसके बाद उसका पुत्र ओसमान कबीले का सरदार बना। तैबरिज के राजा और चंगेजावा के एक सूबेदार महमूद खाँ गजन के आक्रमणों से चकनाचूर होने पर जब सेलुजुक साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने वाला था तो इसके अधिकांश सामन्ती जागीरदारों ने इसके पतन को रोकने की बजाय इसके पतन में सहायता की, ताकि वे अपनी जागीरों के स्वतन्त्र शासक बन सकें। लेकिन ओसमान अपनी निष्ठा में अडिग रहा और यूनानियों पर बार-बार जीत से अपने अधिराज को कमजोर होने से बचा लिया। सबसे पहले उन्होंने 1295 ई. में कजोरा हिसार पर विजय पायी जहाँ सबसे पहले साप्ताहिक प्रार्थना में सुलतान के नाम के स्थान पर ओसमान का नाम लिया जाने लगा। उन्होंने जो इलाके तलवार के जोर से जीते थे, अलाउद्दीन कैकीवाद-दो, ने उसी वर्ष उनके मालिकाना अधिकार उसे दे दिये और साथ ही घोड़े की पूँछ, ढोल तथा झंडा पेश किये जो स्वतन्त्र कमांड के प्रतीक थे। ओसमान ने यूनानियों के विरुद्ध अपनी जीत का सिलसिला जारी रखा और अपनी वीरता तथा हरमन काया के सामन्त कैंसी मिखाल से दोस्ती करके ऐनक्वेल बिलेजिक और थार हिसार का मास्टर बन गया। 1300 ई. में सेल्जुक साम्राज्य टूट गया और इसके खंडहरों पर अनेकों छोटे राज्य अस्तित्व में आये। उनके संरक्षक और हितैषी सुलतान अलाउद्दीन-दो, की मृत्यु के पश्चात् ही ओसमान ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की और तुर्की इतिहासकारों के अनुसार इस घटना के दिन से ही ओहोमन साम्राज्य की स्थापना हुई।[1] तुर्की साम्राज्य काफी लम्बा-चौड़ा थरा। तुर्कों ने एशिया-माइनर में शासन किया। तुर्कों ने मिस्र पर शासन किया, तुर्कों ने मंगोलों के अधीन सीरिया तथा मैसोपोटामिया में कुछ अधिकार प्राप्त कर लिये जबकि चंगेजखाँ के वंशजों ने फारस में खलीफा के साम्राज्य को जीता। वोल्गा के बीहड़ क्षेत्र में और उराल के पहाड़ों में आंकसस के मैदानों में तथा टारंटारी के रेगिस्तान में प्रभुसत्ता प्राप्त कर मध्य एशिया के पास राज्य बढ़ा लिया। इसके साथ ही उन्होंने चीन में साम्राज्य स्थापित किया। उसी समय भारत में चंगेज खाँ मंगोल राज्य स्थापित करने की तैयारी कर रहा था, जिसको हम महान मुगल के नाम से जानते हैं।[1] लेकिन तुर्कों की शक्ति को एक बार ऐसा धक्का लगा कि उनका शासन सदा

---

1. स्टेनली लेन पूल – 'टर्की' (न्यूयार्क, 1899), पृष्ठ 7

के लिए समाप्त हो गया। ठीक उसी समय जब सुलतान अपने चरम उत्कर्ष पर था, जब उसका हुक़्म निर्विवाद रूप से यूरोप और एशिया में वाइजेनटियम साम्राज्य के अधिकांश क्षेत्र में चलता था, जब ईसाई राज्य उसे विश्व के लिए एक दैत्य समझ कर उससे दहशत खाते थे, एक ओर उससे भी बड़ा दैत्य उसको दमन करने के लिए आया और एक ही झटके में पूरे साम्राज्य को, जो बायेजिद ने इतने उत्साह से बनाया था, धराशायी कर दिया और यह भयानक विजेता तिमर, तातार अथवा तैमूरलंग था। चंगेजखाँ की लम्बी-चौड़ी सल्तनत का विनाश होने पर जो छोटे-छोटे सुलतान बन गये थे उनको तैमूर ने अपने अधीन कर लिया। तैमूरलंग ने हर कार्य तलवार की नोक पर किया और बयेजिद के अंतर्गत जितने प्रांत थे जीत लिए। 1402 में तातार और तुर्क आमने-सामने हुए। जब तुर्क तुनतुनिया का घेरा डोलने में व्यस्त थे, सुलतान ने अपनी सेना के ऊपर तैमूर की विजय की खबर सिवांग में सुनी। बयेजिद ने सेना इकट्ठी की और शीघ्र सामना करने के लिए स्वयं गया। किन्तु वह अंगोरा में हार गया और तुर्की साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया।[1] बड़ी पटुता से खड़ा किया गया तथा बड़ी बहादुरी से सुरक्षित रखा गया तुर्की साम्राज्य एशियाई तानाशाह से परास्त हो गया। "ओटोमन्स का इतिहास अचानक समाप्त हो गया प्रतीत होने लगा। बायेजिद को जो अपने उत्कर्ष पर था बंदी बना लिया गया और उसे जंजीरों से बाँध दिया गया। विश्व में कभी भी इतनी बुरी तरह किसी का भी पतन नहीं हुआ।"[2]

दुर्भाग्य से तैमूरलंग अपनी विजय के फल के लिए जीवित नहीं रहा, पर उसका यह धक्का ओटोमन्स साम्राज्य के लिए अन्तिम प्रहार सिद्ध नहीं हुआ। श्री लेनपूल का कहना है, "तुर्कों के शासन का सबसे अधिक आश्चर्यजनक लक्षण इसकी जीवन-शक्ति है। जानकार भविष्य वक्ताओं ने इसके सर्वनाश की घोषणा की है और फिर भी यह अभी तक जीवित है। एक-एक करके कई प्रांत साम्राज्य से निकल गये फिर भी सुलतान का अधिकार क्षेत्र बहुत बड़ा है, कई वंशों के लोग सुलतान का आदर करते हैं अथवा इससे डरते हैं। इस बात को ध्यान में रखते हुए कि एक तुर्क सुलतान में एक शासक के गुण कितने ही कम क्यों न हों, उसने तलवार के बल पर जीते लोगों के साथ सुलह करने के लिए चाहे कितनी ही कम तकलीफ क्यों न की हो, यह आश्चर्य की बात है कि उसका प्रभाव बहुत अधिक था और सत्ता अडिग थी। एक दर्जन वर्षों में ही हारे हुए प्रांतों को दुबारा शक्तिशाली और योग्य शासनकाल के दौरान पुन: जीत लिया गया और 1402 ई. में हुई भारी पराजय के परिणामस्वरूप कमजोर होने के बजाय उसके पतन के बाद और अधिक शक्तिशाली तथा प्रभावशाली हो गया और एक नयी शक्ति प्राप्त दैत्य की तरह साहस के साथ नये क्षेत्र जीतने की तैयारी करने लगा।[3] अच्छी सम्भावनाओं से खुश होकर मुहम्मद

1. वही, पृष्ठ 7
2. वही, पृष्ठ 73
3. स्टेनली लेनपूल – 'टर्की' पृष्ठ 74-75

ने एशिया में वरूसा से यूरोप में एडरियानोपनल अपनी राजधानी ले गया। सेल्जुक तुर्क हलेसपांट पहुँचे, लेकिन इसे पार करने का निर्णय ओटोमन पर छोड़ दिया। किस्तुनतुनिया कई तुर्की राजाओं का स्वप्न रहा था। जब से ओटोमन ने यह स्वप्न देखा कि किस्तुनतुनिया उसके कब्जे में आ गया है, उन्होंने इस शानदार नगर पर कब्जा करने का मन बना लिया। कुलिश बयेजिद ने इसका घेरा डाल दिया। मूसा ने इस पर काफी दबाव डाला। मुराद-दो, ने बड़े धैर्य से इसको जीतने की योजना बनाई। केवल एक नगर को ही जीतना था क्योंकि उस प्रांत का बाकी क्षेत्र ओटोमन ने बहुत पहले ही जीत लिया था, लेकिन इस राजधानी नगर के धन, सौंदर्य, शक्ति और स्थिति ने तुर्कों को इतना प्रभावित किया कि इसे जीतना ही तुर्कों की महत्त्वाकांक्षा बन गया।[1] महमूद दो, अर्थात् छठा ओटोमन सम्राट बड़ी उत्सुकता से इस बात की प्रतीक्षा कर रहा था कि इस नगर को कैसे जीता जाये। सम्राट की शत्रुता का लाभ उठाते हुए उसने नगर पर आक्रमण करने की तैयारी की और 29 मई, 1453 को जीत लिया। अचम्भे की बात नगर का पतन नहीं है बल्कि लम्बे समय तक उसका डटे रहना है। क्योंकि इस समय बाइजैन्टाइन साम्राज्य की हालत इतनी कमजोर हो गयी थी कि वह मुकाबला करने की स्थिति में नहीं था। निःसन्देह इतनी लम्बी अवधि तक तुर्कों का मुकाबला करते रहने का कारण इसके रक्षकों का योग्य होना नहीं है बल्कि हमलावरों के पास पर्याप्त साधन उपलब्ध न होना है।[2] सम्भवतया विश्व में सामरिक दृष्टि से इतना अनुकूल स्थान कोई नहीं है जितना कि किस्तुनतुनिया है। इसका एशिया, यूरोप और अफ्रीका तीनों महाद्वीपों से सम्पर्क है और जिसका भी इस पर कब्जा रहा, उसने इन तीनों महाद्वीपों पर प्रभुत्व रखा। किस्तुनतुनिया के भौतिक बल और आक्रमणों का सामना करने की शक्ति के बारे में डॉ. कनिघगम का कहना है– "हर नयी शताब्दी में नये-नये आक्रमणकारियों ने आक्रमण किया। चौथी शताब्दी में इसकी स्थापना तुरन्त बाद गार्थो ने इस पर आक्रमण किया। पाँचवीं शताब्दी में हूणों और चंडालों ने तथा छठी में सलावों ने आक्रमण किये। इसके बाद सातवीं शताब्दी में अरबों और पारसियों ने तथा आठवीं और नवीं शताब्दी में मग्यारों, बुलगारों तथा रूसियों ने आक्रमण किये। वीनस और चौथे धर्मयुद्ध की सफलता से इसकी प्रतिष्ठा खत्म हो जाने और लातीनी राज्य की स्थापना होने के बाद भी पुनः स्थापित राज्य तुर्कों का लम्बी अवधि तक मुकाबला कर सका। यह कई बार डगमगाया, लेकिन इसने 1453 तक साहस नहीं छोड़ा, जबकि यह बुरी तरह परास्त हो गया।[3]

यह बड़े सौभाग्य की बात है कि यह शाही नगर इन अनवरत आक्रमणों को सहन कर सका और पुरातन सभ्यता के खंडहरों को सुरक्षित रख सका। ईसाई मत के प्रचार के लिए भी यह सौभाग्य की बात थी कि इस्लाम मत यूरोप में ईसाई मत के एक वास्तविक शक्ति

1. वही, पृष्ठ 107-108
2. विश्वकोश ब्रिटानिका, खंड 27, पृष्ठ 443
2. डब्ल्यू कनिघम, वैस्टर्न सिविलाइजेशन-एन्शियेन्ट टाइम्स, पृष्ठ 197-98

बनने से काफी पहले रुक गया। इसने बर्बरता को सहन करते हुए पुरातन सभ्यता को विकसित होने का अवसर दिया। कुस्तुनतुनिया ने जो काम पूर्व दिशा में किया वही काम बहुत पहले तूर पश्चिमी दिशा में कर चुके थे, शायद इतने वैभवशाली ढंग से नहीं। तुर्क लोगों से बहुत पहले अरब के लोग किस्तुनतुनिया को पाने की अपनी चेष्टाओं में निराश होने पर इसे पाने में सफल हुए और दक्षिण की ओर फैल गये, और उन्होंने अफ्रीका होते हुए अपने धर्म का प्रचार करते हुए जिब्राल्टर से होकर पश्चिमी दिशा में यूरोप में प्रवेश करने का इरादा जताया। जहाँ इनके थोड़ा आगे बढ़ने पर पश्चिम जगत ने उनका छिट-पुट विरोध किया। गोथ उनके प्रभावशाली आक्रमण से मुश्किल से अपनी रक्षा कर सके। 711 ई. तक स्पेन अरबों और बाबेरों के नियन्त्रण में आ गया और मूर के अप्रवासी वहाँ पर बड़ी संख्या में आ गये। अपनी जीत से उत्साहित होकर अरबों ने गौल को पार करने का विचार किया लेकिन ड्यूक ऑफ एक्यीलेन ने उनको रोक लिया। तथापि ड्यूक, 732 में बोरडीओक्स के पास हार गया। वे दुगुनी शक्ति से पोर्टअर्स तक बढ़े और टुर्स के लिए कूच किया। लेकिन यहाँ एक अधिक शक्तिशाली दुश्मन से उनकी टक्कर हुई। चार्ल्स के अधीन फ्रेंक्स हैमर (मोरटैल) ने टुर्स में अरबों को हराया और स्थाई तौर पर उनका आगे बढ़ना रोक दिया। अरबों ने फिर कभी भी पाइयोनीज को पार करने की चेष्टा नहीं की। यदि अरबों ने यूरोप को अपने कब्जे में ले लिया होता तो यूरोपीय सभ्यता का क्या होता, यह अनुमान लगाना कठिन है। यह निश्चित है कि फ्राँसीसी के मुकाबले मूर अधिक प्रभावशाली थे। प्रो. रोबिन्सन का कहना है कि "इतिहासकार साधारण तौर पर इसे अच्छे भाग्य का मामला मानते हैं कि चार्ल्स, हैमर तथा इसके बर्बर सिपाही मुसलमानों को टुर्स में हराने तथा उन्हें पीछे भगाने में सफल हुए। लेकिन यदि उनको दक्षिण फ्राँस में बसने दिया होता, तो उन्होंने विज्ञान तथा कला को फ्राँसीसियों की अपेक्षा अधिक तेजी से विकसित किया होता।"[1]

जब एशिया के खानाबदोश लोगों की इन तेज गतिविधियों के कारण मध्य एशिया के सभी शान्तिपूर्ण कार्यकलापों में बाधा आ रही थी, रोम साम्राज्य का तेजी से पतन हो रहा था और यूरोप में दुबारा सन्नाटा छा गया जो जर्मनी के लोगों द्वारा अनवरत रूप से युद्ध की स्थिति बनाये रखने पर ही समाप्त हुआ।

इन हालात में व्यापार कम होना अवश्यंभावी था। पूरे मध्य कालीन व्यापार के सामने कई बाधाएँ थीं। पूरे पश्चिमी यूरोप में पैसे की कमी के कारण विनिमय में काफी बाधाएँ आती थीं। ईसाई धर्म मात्र एक आशावादी धर्म था जो जीवन की सुख-सुविधाओं का प्रतिवाद करता था और आर्थिक गतिविधियों पर धर्म का नियन्त्रण हो गया था। उचित मूल्य का सिद्धान्त लागू होने पर तथा थोक व्यापार पर रोक लगने से व्यापार बहुत कम हो गया।

1. ब्रेसली और राबिन्स – "आउटलाइन्स ऑफ यूरोपियन हिस्ट्री" भाग-1 (न्यूयार्क) 1914, पृष्ठ 368
2. ब्रेसली और राबिन्स – "आउटलाइन्स ऑफ यूरोपियन हिस्ट्री" भाग-1 (न्यूयार्क) 1914, पृष्ठ 506

कार्यकलापों में आड़े आने वाली सबसे बड़ी बाधा ईसाइयों की सूदखोरी की नीति थी। एक ही झटके में लोगों पर ब्याज का ऋण देने की पाबन्दी लगा दी गई। धन की कमी और सूदखोरी पर रोक लगने से व्यापार कम होना स्वाभाविक था। चूँकि यहूदी ईसाई धर्म की परिधि में नहीं थे, वे मुद्रा का लेन-देन कर सके और इस कारण आर्थिक विकास में उनका काफी योगदान रहा। यूरोप के आर्थिक विकास में इन बदकिस्मत लोगों की काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही किन्तु इनके साथ ईसाइयों ने बहुत बुरा व्यवहार किया। ईसाइयों ने उन्हें ईसा को मौत की सजा देने का अपराधी ठहराया।[2] इन चीजों के अतिरिक्त इन पर मनमाने ढंग से कष्टप्रद परिवहन शुल्क लगा दिया गया। उस समय भूगोल की बहुत कम जानकारी थी। समुद्र के खतरे भी किसी तरह कम नहीं थे और समुद्री डाकू लगातार भय बने हुए थे। सबसे बड़ी रुकावट यह थी कि रोम की सड़कें बहुत खराब थीं। प्रतिकूल परिस्थितियों में रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् पश्चिम यूरोप में लम्बी अवधि तक सन्नाटा छाया रहा और जीवन नीरस हो गया, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

किस्तुनतुनिया ने व्यापार की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया। उसकी नीति खसोटने की थी। बोसफोरस पर स्थित होने के कारण इसे जो लाभ हो सकते थे, उन्हें पूरी तरह प्राप्त करने की ओर इसने कभी ध्यान नहीं दिया। पश्चिम और किस्तुनतुनिया के बीच बहुत कम व्यापार होता था। केवल सैनिक कार्यवाही से ही व्यापारिक गतिविधियों को प्रोत्साहन मिलता था। .... बल्कि सीरिया तथा मिस्र में अरबी शासक वाइजैन्टाइन साम्राज्य के समकालीन शासकों की तुलना में अधिक प्रबुद्ध थे।

किन्तु इस पतन के बावजूद इटली ने मध्य युग के व्यापार तथा विद्वता को सुरक्षित रखा। नौवीं शताब्दी में इटली के उत्तर पूर्व तथा दक्षिण पश्चिम में वास्तव में व्यापारिक गतिविधियों में विकास हुआ। यह इटली में गणतंत्र के प्रादुर्भाव का युग था और पूर्व के साथ व्यापार के काफी सम्पन्न दायित्व थे। पूर्व के साथ व्यापार से प्रत्येक नगर राज्य को काफी लाभ हुआ।

इनमें प्रथम तथा सबसे आगे अमाल्फी है। 820 ई. तक यह पूर्वी साम्राज्य से स्वतन्त्र हो गया। इसकी समुद्री गतिविधियाँ इतनी तेजी से बढ़ीं कि 20 वर्षों के भीतर इसकी नौसेना अरबों द्वारा रोम पर समुद्री आक्रमण होने पर उनके साथ लड़ाई कर सकी थी। उसके कारखाने पालरमो, सियराकुस, मैसीना, डुराज्जू और किस्तुनतुनिया तक में थे और एक व्यापारिक राज्य के रूप में उसकी ख्याति इतनी फैली कि "टबूला अमलफितता के समुद्री कानून अन्तर्देशीय समुद्र के किनारे के व्यापारियों में प्रचलित थे और गणतन्त्र की सिक्का पद्धति लैटिन यूरोप तथा लेवौट के मध्य लेन-देन का मुख्य माध्यम थी।"[1] पर

1. रेमंड ब्रीजले, 'दी डान ऑफ माडर्न ज्याग्राफी' खंड-2

बन्दरगाहों के छोटे होने के कारण अमाल्फी एक बड़ा बाजार नहीं बन सका। इसलिए इसे अपने विरोधियों को मार्ग देना पड़ा। यह नारमन्स की थल शक्ति का शिकार हो गया, जिन्होंने नापिल्स सलैरनो पर ब्रिंडिसी को अपने नियन्त्रण में ले लिया था जबकि अन्य बेहतर स्थिति वाले राज्यों की समुद्री शक्ति इससे काफी अधिक बढ़ गयी थी।

अमाल्फी का पतन होने पर वीनस का उत्थान हुआ। चारलेमेगने के समय से एड्रियाटिक की रानी, राजनीति में तथा लेतानवी जगत के व्यापार में स्थान पाने लगी। इसकी अवस्थिति के कारण इसके जो फायदे थे, इटली के बन्दरगाहों के किनारे स्थित अन्य किसी कस्बे से वे फायदे नहीं हो सकते थे। समुद्र द्वारा मुख्य भूमि और समुद्र तल की नीची कटावदार दीवारों द्वारा खुले समुद्र से पृथक होने और प्रायः छिछले किन्तु बीच-बीच में गहरे जलमार्गों से घिरा होने के कारण वीनस को नागरिक तथा बाहरी व्यापारियों द्वारा बाहरी आक्रमण से सुरक्षित समझा जाता था। महाद्वीप की राजनीतिक अशान्ति ने इसे अटटीला के समय से शरण लेने का स्थान बना दिया था और एड्रियाटिक में समुद्री प्रतिस्पर्धा न होने से व्यापार तथा उपनिवेश बसाने के लिए और विजय प्राप्त करने के लिए वहाँ काफी गुंजाइश थी।[2] इसकी परोपकारी तटस्थता और इसकी वाइजेन्टाइन के प्रति निष्ठा से इसकी सम्पन्नता बहुत बढ़ गयी, क्योंकि पूर्वी साम्राज्य के पतन पर सम्पूर्ण एड्रियाटिक तट इसके प्रभाव में आ गया और वाइजेन्टाइन तट के मुख्य बाजार एन्टियोच, इनोपुइस्टीया, अदन, टारसुस, अटटालिया, स्ट्रोबीलोज, चिओस, एफलसस, फोइयासिया, हिराकिलया, सेलिमवारिया, चिराईसायोलिस, डैमैट्रियाज एंड्रियानोपले, एथैन्स, थैब्स, थिस्सालेनिबा, नगरोपांट, कोरिंथ, कोरफस, डुराजू आदि इसके प्रभाव में आ गये और वैनीसियन व्यापार के लिए खुल गये। वीनस की व्यापारिक नीति बहुत ही दूरदर्शी तथा विवेकपूर्ण थी। उसने सदैव विशेष रूप से समुद्री संघर्ष में शक्तिशाली का समर्थन करने का नियम बनाया। और अनेक अवसरों पर इसका प्रयोग किया और इस प्रकार अपने शत्रुओं को रौंदने और शक्तिशाली राज्यों का कृपा पात्र बन कर स्वयं एक माहन शक्ति बन गया।

जेनोआ एक और नगर राज्य प्राचीन व्यापार की भागीदारी में देर से आया। 1097 ई. में इसका उत्थान हुआ। स्वतन्त्र रूप में राज्य के प्रादुर्भाव के बारे में चम्पागना या राजनैतिक संस्था से जानकारी मिलती है जिसकी स्थापना अन्त में हुई थी और जिसका संचालन नगर पादरियों द्वारा स्वतन्त्र रूप में निर्वाचित और समर्थित काउंसलों द्वारा किया जाता था और जो आवर्ती जैसे धर्मनिरपेक्ष सामन्त होते थे।[2] 1097 से 1122 तक जेनोआ को व्यापार के मामले में महत्त्वपूर्ण रियायतें मिलती रहीं और उसने लेननटाइन तथा अफ्रीका दोनों के तटों पर कारखाने स्थापित कर लिये। इसका व्यापार अलेक्जेंड्रिया से होता हुआ

1. वही, खंड-2, पृष्ठ 401
2. रेमंड ब्रीजले, 'दी डान ऑफ माडर्न ज्याग्राफी' खंड-2, पृष्ठ 419

मिस्र, टनिस, फ्राँस और स्पेन के दक्षिणी तट पर स्थित कस्बों तक फैल गया था।

पीसा का प्रादुर्भाव जो जेनोवों जैसा प्रतीत होता है, 1085 ई. में हुआ। हथियारों के बल पर पीसा मुसलमानों तथा वाइजेन्टाइन साम्राज्य से व्यापारिक विशेषाधिकार प्राप्त करने में सफल हुआ। इसका व्यापार इतना अधिक था कि "पश्चिम के रूढ़िवादी लोग उस समुद्री शक्ति तथा नगर में लोगों की भीड़ को देखकर चकित हो गये। गैर ईसाई तुर्की, लिबयाई, पार्थी चालडियाई ने नगर को गन्दा कर दिया था और इसकी दीवारें काली कर दी थीं। यहाँ व्यापार ही व्यापार था और भाषा जैसी सभी लातीनी बाधाओं को तोड़ कर सभी दिशाओं में फैल गया था।[1] पीसा को जितनी रियायतें तथा विशेषाधिकार सुविधाएँ प्राप्त थीं उतनी किसी भी गणतन्त्र को प्राप्त नहीं थीं। इसकी समुद्री गतिविधियाँ यद्यपि थोड़ी थीं, परन्तु प्रभावशाली थीं। इन गणतन्त्रों की व्यापारिक गतिविधियाँ जब प्रारंभिक चरण में थीं तो क्रूस युद्धों से इसे काफी प्रोत्साहन मिला। हमारा क्रूस युद्धों के फौजी पहलू से कोई सरोकार नहीं है, यद्यपि उस समय इन्होंने ही सबसे अधिक शोषण किया। हम अपना ध्यान क्रूस युद्ध के व्यापारिक पहलू तक केन्द्रित रखना चाहते हैं।

समुद्र के अपने खतरे तथा भय थे।[2] कठिनाई से कोई अवसर लेने का प्रयास करता था। "यह कहना सही होगा कि उस युग में मैदान का रहने वाला कोई व्यक्ति समुद्र में नहीं जाता था, जब तक कि वह ऐसा करने के लिए विवश न हो जाये। क्योंकि समुद्री यात्रा जेल में होने के समान तो थी ही, इस में डूब जाने का खतरा भी रहता था।"[3] तथापि जलमार्ग से माल लाने ले जाने के महत्त्व का मुजाहिदों को तब पता चला जब पहले ईसाई धर्मयुद्ध (1096-99) में थलमार्गों के इस्तेमाल करने से उन्हें काफी थकान हुई। उस समय समुद्री यातायात इटली के गणतन्त्रों के हाथ में था। अतः धर्मयोद्धा इन गणतन्त्रों से अधिकाधिक माँग करने लगे, जो बढ़ते व्यापार के कारण अधिकाधिक सम्पन्न होते जा रहे थे।

ईसाइत की सेवा करते हुए ये गणतन्त्र अपनी भी सेवा करते थे। उन्होंने अपना व्यापार कई गुणा बढ़ा लिया। उनका आयात निर्यात बहुत बढ़ गया। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्हें लेवंट के तटों पर विशेष अधिकार प्राप्त हो गये और एक प्रकार से अधिक राजनैतिक प्रतिष्ठा। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया वे धर्मयुद्ध में भाग लेने वाले राजकुमारों के अपरिहार्य बन गये, मुख्य सत्ताधारी होने के नाते जब तक धर्म युद्ध का भार उन पर था और वे अपनी बात मनवा सकते थे।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मयुद्ध को अलग-अलग नजरों से देखा जाता था। कैथोलिक

---

1. वही, पृष्ठ 427-428
2. 'नेमेसिस ऑफ नेशन्स', पृष्ठ 219-220
3. ब्रेसली खंड-2 पृष्ठ 407
4. वही, खंड-2, पृष्ठ 407

चर्च का दोहरा उद्देश्य था जो बर्नार्ड के शब्दों से भली–भाँति स्पष्ट है। दूसरे धर्मयुद्ध के योद्धाओं का आदर करते हुए उन्होंने कहा है, "उन अनगिनत लोगों में पापी–अपवित्र, देवद्रोही मनुष्य, घातक और झूठी गवाही देने वालों को छोड़ कर तुम्हें ऐसे बहुत कम लोग मिलेंगे जिनके जाने से दोहरा लाभ होता है। यूरोप उनके जाने से खुश होता है और फिलिस्तीन उनको पाने से खुश होता है। इस प्रकार उनका यहाँ से जाना और वहाँ पहुँचना दोनों लाभदायक हैं।[1]

असन्तुष्ट तथा अधीर सामन्त जो जिम्मेवारी से बचना चाहते थे और अपराधी तथा पापी लोगों और श्रद्धालुओं तथा भावुक लोगों के धर्म युद्धों और उनके उद्देश्यों के बारे में उनके अपने–अपने विचार थे। लेकिन व्यापारिक गणतन्त्रों के चतुर व्यापारी और नाविक धर्मयोद्धाओं की ओर इस दृष्टि से नहीं देखते थे जिस दृष्टि से उन्हें सामान्य कैथोलिक सामन्त और देशीय जिलों के मजदूर देखते थे। उनमें भी धार्मिक उत्साह था, लेकिन उन्होंने इसका एक भावना के रूप में विकास न करके एक उपयोगी वस्तु के रूप में विकास किया। और उन्हें इस्लाम के प्रति बहुत कम घृणा महसूस हुई तथा धार्मिक स्थलों के प्रति उनकी श्रद्धा अधिक तीव्र नहीं रही। इससे फिलिस्तीन भेजे गये योद्धाओं और तीर्थयात्रियों में जीवन का संचार हुआ। वेनिस और पीसा के जेनोवा और अमाल्फी में जिन लोगों ने शासन या क्रय–विक्रय किया, उनके मन से व्यापारिक हित की बात कभी ओझल नहीं हुई।[2] धर्म युद्धों के परिणाम भी आशाओं के प्रतिकूल रहे। उन्हें ऐसी उपलब्धियाँ हुईं जिनके बारे में धर्मयोद्धाओं ने कभी सोचा भी नहीं था और ये उपलब्धियाँ किसी तरह कम भी नहीं थीं। "जमीन पर धर्म–युद्ध करने वाली शक्ति जब अपने उत्कर्ष पर थी, तभी अनेक पश्चिमी नगरों की समुद्री सम्पन्नता भी अपने चरम उत्कर्ष पर थी और धार्मिक युद्धों के समाप्त होने पर यह परिणाम निकला कि ईसाई व्यापार का विस्तार हुआ और प्राच्य तथा मौरीटेनिया सभ्यता का इसमें आत्मसात हो गया। इस महायुद्ध के परिणामस्वरूप पूर्व और पश्चिम में जो भेंट हुई उससे राजनैतिक दृष्टि से यूरोप और कैथोलिक जगत को स्थाई रूप से बहुत कम लाभ हुआ। दूसरी ओर इसके परिणामस्वरूप ईसाई देशों ने वाणिज्य के माध्यम से अपना भविष्य सुधारने की ओर ध्यान दिया। योद्धाओं का मोर्चों पर आक्रमण असफल रहा, लेकिन धर्म की इस लड़ाई से एक नयी संस्कृति और ज्ञान के भरपूर और विपुल धन–दौलत एक अधीर किन्तु अटल महत्त्वाकांक्षा का आयात, जिसके पन्द्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में आयी नवचेतना में देखने को मिली, जब भूगोल तथा प्राकृतिक विज्ञान के क्षेत्र में बड़ी खोजें हुईं और यूरोप की हथियारों तथा उद्यम का पूरे विश्व में गुणगान होने लगा।[3] उपरोक्त

1. ब्रेसली और रोबिन्सन द्वारा "आउटलाइंस ऑफ यूरोपियन हिस्ट्री" भाग–1, पृष्ठ 471 में उद्धृत
2. ब्रेसली, खंड–2, पृष्ठ 408
3. ब्रेसली, खंड–2, पृष्ठ 395

विवरण से यह सोचा जा सकता है कि धर्म-युद्धों का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया। किन्तु इसमें कोई शंका नहीं है कि उनसे यूरोप के लोगों को काफी शिक्षा मिली और व्यापार में काफी वृद्धि हुई, क्योंकि इन धर्म-युद्धों से उन क्षेत्रों में व्यापारियों को स्थाई आधार मिल गया जहाँ ईसाई, शासकों के साम्राज्य नष्ट कर दिये गये थे।

धर्म योद्धाओं की सहायता करने के कारण इटली के गणराज्यों को बेहद पुरस्कृत किया गया। अनेक विशेषाधिकारों के अतिरिक्त प्रत्येक गणराज्य के अलग-अलग प्रभाव क्षेत्र बन गये जैसे कि इस समय चीन के प्रभाव क्षेत्र हैं। निकट पूर्व के पीछे बाजारों पर नियंत्रण के लिए उनमें आपस में होड़ लग गयी। धर्म-युद्ध में भाग लेने वाले सीरिया के मुस्लिम भीतरी प्रदेश में चार मुख्य बाजार अलेप्पो, उमासकस हैम्स या इमैसा तथा हबाथ थे, जिनके आगे बगदाद के और बड़े बाजार थे तथा मोसूल और बसेरा या बसरा के छोटे बाजार थे, जो तिमरी मार्ग पर मिलते थे। अलेप्पो पश्चिमी दिशा में अब्बासाइड खलीफा के महानगर से एंटियोच और लाप्रेडिकिया तक व्यापार मार्ग पर एक बड़ा केन्द्र था। यह मार्ग एडरिशी के अनुसार ईराक, पर्शिया और खोरासन के व्यापार का मुख्य मार्ग था। आतलेपी के रेशम बाज़ार से सिद्ध हो जाता है कि सुदूर पूर्व के और अधिक दूर के देशों से भी यह जुड़ा हुआ था। तेरहवीं शताब्दी के अन्त में भी बहुत से वेनिसी व्यापारी रेशम के माल और ऐलम के व्यापार के लिए यहाँ रहते थे। धर्म योद्धाओं को एंटियोच की जीत के बाद नगर में मिली कतिपय वस्तुओं और मिर्च से भी यह सिद्ध हो जाता है कि इस मार्ग से भूमध्य देशों और भारत के बीच व्यापार था। ज्येष्ठ सानूटों का यह कहना संभवतया ठीक ही है कि प्राचीन काल में प्राच्य माल अधिकतर चौदहवीं शताब्दी के आरम्भ में समुद्र तक जाता था।[1] अरबों और ईसाइयों की सेनाओं के तेजी से आगे आने से भारत को आने वाले लाल सागर मार्ग पर वास्तव में कोई प्रभाव नहीं पड़ा और अलेक्जेन्ड्रिया दो लोकों का बाजार बना रहा।

इटली के इन गणतन्त्रों ने प्राच्य वस्तुएँ प्राप्त करके महाद्वीप के उत्तर में पर्वतपारीय क्षेत्रों के साथ व्यापार शुरू कर दिया और भूमध्य मार्ग का यूरोपीय रकाब बन गया। उत्तर, व्यावहारिक रूप से अर्द्ध जंगली अवस्था में था। बाल्टिक सागर में व्यापारिक गतिविधियाँ बहुत कम थीं। वाइकिंग आधा व्यापारी तथा आधा डाकू था। जहाँ तक हम समझ सकते हैं उत्तर में ये व्यापारिक गतिविधियाँ फोइनीसियास और उनके यूनानी प्रवर्तकों की गतिविधियों से दो तरह से भिन्न थीं। ये गतिविधियाँ अच्छी तरह संगठित नहीं थीं। फोइनीसिया के लोगों के कुछ विशेष स्थानों पर कारखाने थे और उनके अधिकार तथा दायित्वों को मान्यता प्राप्त थी। लेकिन कस्बे और बस्तियों के बीच घोड़ों

1. ब्रेसली, खंड-2, पृष्ठ 441

का व्यापार नहीं होता था। वाइकिंग एक साहसिक व्यक्ति था। उसने अपनी किस्मत सुधारने का पूरा प्रयास किया और अवसर आने पर एक रियासत में बस गया। जर्मनी के अन्य लोगों की तुलना में इन शहसवारों को कस्बों में रहने का अधिक शौक था। किंतु किसान तथा निवासी बनने से पहले इन शहसवारों ने शान्तिपूर्ण ढंग से चल रहे व्यापार में काफी बाधाएँ डालीं। इन शहसवारों के ईसाई बनने के बहुत बाद फ्लैमिश कस्बों में शान्तिपूर्ण व्यापार के आसार दिखाई दिए। इससे इंग्लैंड में ऊन के उत्पादन पर काफी प्रभाव पड़ा। फ्लैमिश व्यापारियों ने अपने को फ्लैमिश हाउस ऑफ लंदन के रूप में संगठित किया और इंग्लैंड को बदले में फ्लैमिश कपड़े मिलते थे। व्यापार को स्टैपिल कस्बों के द्वारा नियन्त्रित किया जाता था। यह उत्तरी जर्मनी के बहुत से कस्बों का एक महासंघ था। वह जर्मन हैनजीटिक लीग मध्य युग का बहुत विस्तृत व्यापारिक संगठन था। बाल्टिक क्षेत्रों के उत्पादों को लाकर जैसे इमारती लकड़ी, लाख, नमक, लोहा, चाँदी, नमक लगी तथा तली मछली, फर, अम्बर तथा कुछ मोटी वस्तुएँ, वे इन्हें दूर देशों से लायी गयी वस्तुओं से बदलते थे। इस प्रकार इटली के इन गणतन्त्रों के माध्यम से अरेबिया, पर्शिया, भारत, पूर्वी द्वीप भारतीय द्वीप समूह यहाँ तक कि चीन का माल प्राचीन काल की भाँति मध्य काल में भी लम्बे तथा कठिन मार्गों से पश्चिमी यूरोप में जाता रहा। कच्चा रेशम, कपास और इनसे बनी वस्तुएँ, नील और रंगाई के काम आने वाली अन्य वस्तुएँ, सुगन्धित लकड़ी और गोंद, नशीले पदार्थ तथा अन्य दवाएँ, मोती, रूबी, हीरे, नीलम, हरे-नीले रंग की मणि, दूसरे कीमती पत्थर, सोना व चाँदी और इसके अतिरिक्त खाद्य मसाले, मिर्च, अदरक, दालचीनी, लौंग व अन्य मसाले मात्र एशिया से प्राप्त किये जाते थे।[1] इस प्रकार एशिया और यूरोप के मध्य व्यापार स्थाई हो गया जो बहुत रास्तों से होता था।

परंतु आरम्भ में इस्लाम के उत्थान से इस प्रणाली में बाधा आयी। जब हम यह अनुमान लगाते हैं कि सभी कठिनाइयों के होते हुए व्यापारी जमीन मार्ग से व्यापार किया करते थे तो हम यह भी समझ सकते हैं कि अरबों की फौजों के तेजी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर आने-जाने से व्यापार में क्या-क्या बाधाएँ होती होंगी। हमें याद होगा कि एशिया से यूरोप के बीच चार मुख्य व्यापार के मार्ग'' थे। धर्म-युद्धों के दौरान जब तक फारस की खाड़ी तथा लाल सागर के बीच मार्ग पर परस्पर विरोधी मुसलमान शक्तियों का नियन्त्रण रहा, तब तक दूसरे अधिक महँगे और घुमावदार रास्ते से होकर जाना अनिवार्य हो गया था, जिसके कारण काफी दूरी तक जमीन से माल ले जाना पड़ता था और माल को कई बार हस्तांतरित करना पड़ता था। यह रास्ता सिंध नदी से होकर जाता था। पहाड़ों के पार जानवरों पर माल ढोया जाता था और वहाँ से आक्सस

1. एडवर्ड स्लो पी थेनी, 'सोशल एंड इंडस्ट्रियल हिस्ट्री ऑफ इंग्लैंड', पृष्ठ-86

के रास्ते कैस्पियन सागर तक जाता था। यह जो प्राचीन मार्ग था, वीनस तथा जेनोवा ने अपना लिया। कैस्पियन से यह मुख्यत: वोल्गा की दिशा में जरिजन नामक स्थान पर जाता था। वहाँ से डोन जाता था, जहाँ अब यना कस्बे में नदी के मुहाने अजीर है। दोनों वीनस आदि जेनोवा को व्यापारिक विशेषाधिकार प्राप्त थे। वीनस में बारहवीं शताब्दी के अंत में एक काउंसल नियुक्त किया गया। उसके पश्चात जेनोवा के लिए एक महत्त्वपूर्ण ऐंटारपोट थ्योडोसिया था जो अब क्रीमिया है।[1] इस्लाम ने ईसाइयत को चारों ओर से घेर लिया था। पूर्व और दक्षिण में मुसलमानों ने रूस को आगे बढ़ने से रोकने के लिए बाधा खड़ी कर दी थी।[2] लेकिन मुसलमानों और क्रूस की इस लड़ाई से व्यापार मार्गों में रुकावटों से मात्र भूमध्य गणतन्त्रों को ही नुकसान नहीं हुआ। पहले जेनोवा और वीनस को धक्का लगा, लेकिन इसने यूरोप की समस्त व्यापार प्रणाली को हिला दिया। मुख्य मार्ग जिसके द्वारा एशिया का उत्पादन ईसाइयों के मध्य और उत्तरी राष्ट्रों तक पहुँचता था, वह हैनसियोटिक लीग थी।[3] हैनिसियेटिक का मुख्य रूप से इस कारण लाभ हुआ कि इटली गणराज्यों के माध्यम से आने वाले प्राच्य माल पर इसका नियन्त्रण था। बहुत प्राचीन काल से जर्मनी तथा इटली के ऊपर के स्थान, पूर्व के उत्पादों के लिए वीनस गणराज्य पर आश्रित थे और जब 1017 ई. में मसालों से लदे हुए जहाज क्षतिग्रस्त हो गये तो इतिहासकारों ने इसे गम्भीर दुर्भाग्यपूर्ण घटना बताया।[4] इस हैनिसयेटिक व्यापार में भारतीय व्यापार का महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा। जब पूर्व से माल आना बन्द होने लगा, तो यूरोप के बाजार कमजोर होने लगे।[5] इस प्रकार प्राचीन व्यापार मार्गों के बन्द होने से पश्चिमी यूरोप का विस्तार हुआ। सम्पूर्ण स्थिति के बारे में प्रो. ए.एफ. पोलैंड ने संक्षिप्त ब्यौरा दिया है। यह पूछे जाने पर कि अमरीका की 15वीं शताब्दी के अन्त में क्यों खोज की गयी, उनका यह कहना विरोधाभास होगा कि कोलम्बस ने 1492 में अथवा इसके आसपास अफ्रीका की खोज की, क्योंकि तुर्की रुकावट डालने वाले व्यक्ति है। यह सम्बन्ध बिल्कुल स्पष्ट नहीं है, लेकिन स्पष्ट सम्बन्ध सदैव बाहरी या छिछले होते हैं और यह अधिक गूढ़ हैं। जर्मन में एक कहावत है जिसका अर्थ है मनुष्य वह है जो वह खाता है। यह उनके लिए 'आदर्श वाक्य'' हो सकता है।

(किन्तु यह अधूरा प्रतीत होता है।–सं.)

---

1. जे. आफ एम., ओ. एस.
2. डब्ल्यू.एम. कनिंघम, 'वेस्टर्न सिविलाजेशन' (माडर्न टाइम्स), पृष्ठ 130
3. डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर, 'ए हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया', खंड 1, पृष्ठ 52
4. ब्रेसली, खंड 2, पृष्ठ 405
5. डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर, वही, खंड 1, पृष्ठ 53

अध्याय 3

ब्रिटिश शासन से पूर्व का भारत

संसार में अन्य पद्धतियों की अपेक्षा साम्राज्यवाद की रक्षा की अधिक आवश्यकता होती है और साम्राज्यवादी व्यक्ति इस कर्तव्य में पीछे नहीं रहे हैं। जहाँ यूनानियों के पास साम्राज्यवाद के लिए एक शब्द तक नहीं था और न ही उन्हें नगर राज्य के संघ की कोई जानकारी थी वहीं रोमवासी संसार के प्रथम तथा सबसे महान शाही व्यक्ति थे और उन्होंने साम्राज्यवाद का औचित्य बतलाया जो उनके उत्तराधिकारियों की भी बपौती बन गया। उन्होंने घोषणा की कि वे उच्च कुल के व्यक्ति हैं और उनकी संस्कृति की किसी दूसरी संस्कृति से तुलना नहीं की जा सकती, उनकी प्रशासन पद्धति बेहतर है और वे जीवन की कलाओं में प्रवीण हैं। उन्होंने यह भी घोषणा की कि बाकी लोग निम्न कुल के हैं, उनकी संस्कृति घटिया है और वे जीवन की कलाओं से अनभिज्ञ हैं, और उनका प्रशासन अति निरंकुश है। इसके परिणामस्वरूप रोमवासियों ने तर्क दिया कि अपने निम्न कुल के भाइयों को सभ्य बनाना न कि इनको जीतना और मानवता के नाम पर अपनी संस्कृति उन पर थोपना उनका दैवी कार्य है। अंग्रेजों ने यही तर्क देकर भारत में अपनी साम्राज्यिक नीति को उचित बताया। भारत के ब्रिटिश इतिहासकारों को तारीफ करने की बीमारी है। उन्होंने भारत में अंग्रेजों से पूर्व के शासकों की बुराइयों का, न कि अच्छाइयों का बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया है। उन्होंने न केवल मुगल शासकों को निरंकुश शासक या लुटेरा बता कर उनकी निंदा की, बल्कि समूचे जन समुदाय और उनकी सभ्यता पर धब्बा लगाया। कोई व्यक्ति या कोई राज्य अपने को बड़ा जताने के लिए दूसरों के गुणों को कम करके बताता है तो यह स्वाभाविक है।

ब्रिटिश भारत के इतिहासकारों ने ब्रिटिश शासन की तुलना उनके कुछ पहले या बहुत पहले हुए शासकों से करने की गलती की है। इतिहास लिखने के नियमों को ध्यान में रखते हुए उन्हें भारत के शासकों की तुलना समकालीन इंग्लैंड के राजाओं से करनी चाहिए थी। यदि हम इस नियम का पालन करें तो ऐसी गलती नहीं होगी। हम नार्मन विजेताओं के अधीन आँग्ल सैक्सन लोगों की दयनीय दशा को याद करें तो हमें मुसलमानों के विजयी होने पर हिंदुओं की जो दयनीय दशा की गयी उस पर तिरस्कारपूर्ण घृणा नहीं होगी। नार्मन विजेताओं के अधीन अंग्रेज कहलाना अपमानजनक समझा जाता

था। न्याय करने वाले ही अन्यायी बन गये थे। मजिस्ट्रेट जिनसे सही न्याय देने की अपेक्षा की जाती थी सबसे बड़े प्रजापीड़क थे और वे साधारण चोरों और डाकुओं से बड़े लुटेरे थे। महान पुरुषों में सही या गलत तरीकों से धुन कमाने की धनु सवार थी व्यभिचार इतना अधिक था कि स्कॉटलैंड की राजकुमारी को अपने आप को बलात्कार से बचाने के लिए धार्मिक वस्त्र पहनने पड़ते थे।

प्रायः यह कहा जाता है कि मुसलमानों ने बहुत जुल्म किए, लेकिन जेरूसलम की विजय के समय धर्म योद्धाओं ने भी कोई कम जुल्म नहीं किये। 40,000 सैनिकों को किसी बात का लिहाज रखे बिना तलवार से मौत के घाट उतार दिया गया, हथियार बहादुरों की रक्षा न कर सके, और न ही भीरु आत्मसमर्पण करने से बच सके, बच्चे या बूढ़े अथवा स्त्री या पुरुष किसी पर दया नहीं की गयी। बच्चों को उसी तलवार से काटा गया जिससे उनकी माताओं को काटा गया। जेरूसलम की गलियों में शवों के ढेर लग गये और पीड़ा तथा निराशा की चीत्कार सभी घरों में होने लगी। अब यदि हम भारत तथा इंग्लैंड का इतिहास पढ़ें और समकालीन घटनाओं की तुलना करें तो हमें प्रत्येक हिंदुस्तानी पोलैंड की तरह इंग्लैंड में ओलीवर मिल जाएगा, अतः हमें, भारत के इंगलिश इतिहासकारों को, सर थामस मुनरो द्वारा दी गयी चेतावनी को दुहराना चाहिए। उसने कहा था जब हम इंग्लैंड से दूसरे देशों की तुलना करते हैं, तब हम आज के इंग्लैंड की बात करते हैं, हम सुधारों से पहले की बात बहुत ही कम सोचते हैं। हम यह सोचते हैं कि दूसरे सभी देश अज्ञानी और असभ्य हैं। उनमें इतना सुधार नहीं हुआ है जितना कि हमारे देश में हुआ है, यद्यपि हमारे देश में हाल ही में उनकी अपेक्षा कम सुधार हुआ है।

अतः हम पहले उन निरंकुश शासकों और लुटेरों की बात करते हैं, जिन्होंने अंग्रेजों से पहले भारत पर राज किया और यह देखते हैं कि उन्होंने क्या किया और उनके शासनकाल में लोगों की क्या दशा थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के राज में भारत के लोगों की आर्थिक दशा के बारे में सही अनुमान लगाने के लिए यह जानना नितान्त आवश्यक है। हमें प्राचीन काल में भारत की आर्थिक सम्पन्नता का विस्तृत विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम पहले ही इस पर विस्तार से विचार कर चुके हैं।

सभी हिंदू और मुसलमान यह मानते हैं कि जिस समय मुसलमानों की भारत पर जीत हुई उस समय भारत काफी सम्पन्न था। कन्नौज का वैभव और सोमनाथ की धन-दौलत उसका प्रमाण है। यह सोचना एक गलती है कि भारत के मुसलमान शासक बर्बर और निरंकुश थे। दूसरी ओर, उनमें से अधिकांश असाधारण चरित्र के लोग थे। गजनी के मुहम्मद ने श्रेष्ठ व्यक्तियों के प्रति काफी उदारता दिखाई। उनकी राजधानी में इतने अधिक प्रतिभावान थे कि एशिया में कभी भी किसी दूसरे राजा के समय इतने प्रतिभावान व्यक्ति

नहीं हुए होंगे। वह धन का लोभी था तो उसका इस बात में भी कोई सानी नहीं था कि धन किस तरह बढ़ाया जाये।

उसके सभी यशस्वी उत्तराधिकारियों में एक स्त्री सुलताना रजिया थीं। फीरोजशाह अपने प्रशासन के लिए भली–भाँति जाना जाता है। उसने कई सार्वजनिक निर्माण कार्य किये। उसने सिंचाई को बढ़ावा देने के लिए नदियों पर 50 बाँध बनवाए, 40 मस्जिद और 30 कॉलेज, 30 तालाब, 100 अस्पताल और 100 सार्वजनिक गुसलखाने, 150 पुल तथा सजावट और आमोद–प्रमोद के लिए कई भवन भी बनवाए। इसके अलावा उन्होंने यमुना में उस जगह से जहाँ यह पहाड़ों से अलग होती है, एक नहर हांसी और हिसार तक बनवाई। ब्रिटिश सरकार ने इसका आंशिक रूप से जीर्णोद्धार किया। इस राजा के इतिहासकार के अनुसार उस समय किसान खुशहाल थे, उनके मकान और फर्नीचर बहुत अच्छे थे और उनकी स्त्रियाँ सोने और चाँदी के आभूषण पहनती थीं। उस समय देश बड़ा सम्पन्न रहा होगा, क्योंकि इटली का एक यात्री मिलो डी कोटींगे जो 1420 ई. में भारत आया था, उसने गुजरात में जो कुछ देखा उसका बड़ा सुंदर वर्णन किया है। उसके अनुसार गंगा नदी के किनारे सुंदर बाग और बगीचों के बीच कई नगर बसे हुए थे। मारजिया पहुँचने से पूर्व उसने चार प्रसिद्ध नगरों को पार किया। उसके अनुसार मारजिया बहुत शक्तिशाली नगर था, जहाँ सोने–चाँदी तथा कीमती पत्थरों की भरमार थी। उनके विवेचन की बारबोरा और बारटेमा के विवरणों से पुष्टि होती है जिन्होंने सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में भ्रमण किया था। विशेष रूप से पहले के अनुसार कैम्बे एक बहुत ही बढ़िया नगर था। यह एक सुन्दर प्रदेश में स्थित था जहाँ फ्लैंड्र्स की भाँति सभी राष्ट्रों के व्यापारी, शिल्पकार और निर्माता रहते थे। सीजर फ्रेडरिक ने गुजरात का ऐसा ही वर्णन किया है। इब्नबतूता के अनुसार, जिसने पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य में मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में भारत की यात्रा की वह अराजकता और अत्याचारों का जमाना था तथा उस समय देश के अधिकांश भागों में विद्रोह हो रहे थे। उस समय देश में बहुत से बड़े–बड़े घनी आबादी वाले नगर और कस्बे थे। उनके विवरणों से पता चलता है कि अराजकता फैलने से पूर्व देश की स्थिति बहुत अच्छी रही होगी।

भारत में मुगल वंश के संस्थापक बाबर ने देश को खुशहाली की दशा में पाया और वह हर असीम जनसंख्या तथा असंख्य शिल्पकार पाकर हैरान हुआ। वह परोपकारी राजा था और उसने बहुत से सार्वजनिक कार्य किये। शेरशाह, जिसने अस्थाई तौर पर मुगलों से गद्दी छीनी, वह अकबर को छोड़कर बाकी सभी मुसलमान बादशाहों में सबसे महान राजा था और बाबर की भाँति उसने कई सार्वजनिक निर्माण कार्य करवाए। अकबर के परोपकारी प्रशासन से सभी भली–भाँति परिचित हैं, इसलिए उसका वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है।

शाहजहाँ ने अपनी प्रजा पर एक राजा की भाँति राज नहीं किया, बल्कि ऐसा राज

किया जैसा पिता अपने परिवार पर करता है। उसके शासनकाल में देश काफी सम्पन्न रहा और पूरी तरह शन्ति रही। मराठा सम्प्रदायों में जो उत्तरकालीन मुगलों के समकालीन थे, लोगों की स्थिति के बारे में एक यात्री ने कहा है, मैंने मराठा प्रदेश में प्रवेश किया तो मैंने अपने आप को स्वर्णयुग की सादगी और खुशहाली में पाया, जहाँ प्रकृति अभी बदली नहीं थी और लड़ाई तथा गरीबी को कोई जानता भी नहीं था। जनता प्रसन्न, ओजस्वी तथा स्वस्थ थी। अतिथि का सत्कार करना सभी लोग अपना धर्म समझते थे, सभी द्वार खुले और मित्र, पड़ोसी तथा अजनबी जो कुछ भी वे चाहें, ले सकते थे। इसी प्रकार टीपू के शासनकाल में दक्षिण भारत के लोगों की दशा के सम्बन्ध में एक इतिहासकार का कहना है, "जब एक आदमी किसी अपरिचित देश से गुजरता है और यह देखता है कि वहाँ खेती-बाड़ी अच्छी होती है, आबादी घनी है और लोग मेहनती हैं। नगर नये-नये हैं, व्यापार बढ़ रहा है, कस्बे बढ़ रहे हैं और हर चीज फल-फूल रही है अर्थात् वहाँ पर खुशहाली है तो स्वाभाविक रूप से वह इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि वहाँ पर कोई जनता की हितैषी सरकार है। यह टीपू के अधीन प्रदेश की तस्वीर है। उसकी सरकार के बारे में यह हमारे विचार हैं।" टीपू के अधीन जो क्षेत्र था वहाँ पर हर जगह घनी आबादी थी और कृषि योग्य समस्त भूमि में खेती होती थी। उसकी सरकार कठोर और निरंकुश थी, लेकिन यह निरंकुशता एक ऐसे कठोर और योग्य शासक की थी, जो जनता का विकास करता था और उसका दमन, जो उसके भावी ऐश्वर्य की वृद्धि का माध्यम होता है और वह आम तौर पर शत्रुओं पर ही अत्याचार करता है।

क्लाइव के अनुसार ''बंगाल एक अपार धन-दौलत से सम्पन्न प्रदेश था।'' मैकाले का कहना है कि "मुसलमानों के निरंकुश शासन तथा मराठा लुटेरों के बावजूद बंगाल पूर्व में समृद्ध राज्य के रूप में जाना जाता था। इसकी आबादी काफी बढ़ गयी थी। इसके अन्न भंडारों से दूरवर्ती प्रदेशों तक अनाज पहुँचता था और लंदन तथा पेरिस की कुलीन महिलाएँ यहाँ के करघों पर बने मुलायम वस्त्र पहनती थीं। लेकिन अंग्रेजों के आने से स्थिति बदलने लगी। भारत की धन-दौलत भारत से बाहर चल गयी और यह इंग्लैंड में जमा हो गयी। बुरी शक्तियाँ संसद व ईस्ट इंडिया कम्पनी दोनों पर छा गयीं।

कम्पनी राज बिल्कुल विवेकपूर्ण नहीं था। वह कठोर था। उसने सुरक्षा दी किन्तु धन-सम्पत्ति नष्ट कर दी। प्रशासन की योजना पूर्णता से कहीं दूर थी। एड मस्मिथ का कहना है कि व्यापारियों की यह कम्पनी प्रभुता सम्पन्न होने के बाद भी अपने को प्रभुता सम्पन्न नहीं समझ सकती थी। "व्यापार या दुबारा बेचने के लिए खरीदना, वे अपना मुख्य धन्धा समझते थे और यह कितनी विचित्र बात है कि वे राजा को व्यापारियों का एक सिरा मानते थे। उनके अनुसार एक राजा की दिलचस्पी उसी देश में होती है जिस पर वह

---

1. वेल्थ ऑफ नेशंस (कैनर्स संस्करण), खड 2, पृष्ठ 136-137

शासन करता है, लेकिन एक व्यापारी की दिलचस्पी इसके ठीक विपरीत होती है।"[1] एड मस्मिथ द्वारा मालिकों (प्रोपराइटर्स) और निदेशकों (डायरेक्टरों) की सभाओं की आलोचना का ब्यौरा अन्तिम अध्याय में दिया गया है जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसका मानना है कि भारतीय स्टाक के प्रत्येक मालिक की दिलचस्पी किसी तरह भी वही नहीं हो सकती, जो उस देश की थी, जिसकी सरकार को वह अपने वोट के कारण प्रभावित कर सकता था। उसका कहना है "यह बिल्कुल सही होता, यदि उन मालिकों की कोई दूसरी दिलचस्पी नहीं होती और उनकी केवल उसी में दिलचस्पी होती, जो भारतीय स्टाक के मालिक के रूप में उनका था। लेकिन उनकी दिलचस्पी दूसरी थी जिसका बहुत अधिक महत्त्व है। प्रायः एक धनी व्यक्ति, कई बार कम साधन सम्पन्न व्यक्ति, तेरह या चौदह सौ पौंड केवल इसलिए देने के लिए तैयार हो जाता था कि वह वोट के आधार पर मालिकों की सभा पर कुछ प्रभाव डाल सकेगा। उसे लूट में तो नहीं लेकिन भारत के लुटेरों की नियुक्ति में भागीदारी का अधिकार मिल जाता था। यद्यपि निदेशक जो नियुक्तियाँ करते हैं, वे अनिवार्य रूप से मालिकों की सभा के नियन्त्रणाधीन होते हैं, जो न केवल उनका चुनाव करते हैं, अपितु कई बार उनकी नियुक्तियों को रद्द भी करते हैं। एक पर्याप्त साधन सम्पन्न व्यक्ति या कम साधन सम्पन्न व्यक्ति यदि वह कुछ वर्षों तक इस प्रभाव का प्रयोग कर सकता है, और इस प्रकार अपने कुछ मित्रों की भारत में नियुक्ति करवा सकता है तो वह प्रायः लाभांशों का बहुत कम ध्यान रखता है, जो उसे इतनी कम पूँजी से प्राप्त हो सकते हैं। जिस पूँजी के आधार पर उसे वोट देने का अधिकार मिला है वह पूँजी बढ़ती है या घटती है, इस ओर भी वह कोई ध्यान नहीं देता। महान साम्राज्य की खुशहाली या बर्बादी की, जिसकी सरकार में उस वोट से उसे भागीदारी मिली, उसे कोई चिंता नहीं होती। कोई दूसरा राजा अपनी प्रजा की खुशहाली या बर्बादी या अपने साम्राज्यों की उन्नति अथवा अवनति या फिर अपने प्रशासन के यश अथवा अपयश के प्रति इतना उदासीन नहीं रहा है और न ही रह सकता है जितना कि एक ऐसी व्यापारिक कम्पनी के अधिकांश मालिक अत्यंत सम्मोहक नैतिक कारणों से उदासीन रहते हैं और अनिवार्य रूप से रहना चाहिए।"[1] यह सम्भवतया कम्पनी के प्रशासन पर एक गम्भीर आरोप है। तथापि यह कम्पनी के प्रारम्भिक प्रशासन की सही तस्वीर है, यद्यपि भ्रष्टाचार बाद में धीरे-धीरे समाप्त हो गया।

भारत की स्थानीय या सर्वोच्च सरकार में देश के मूल निवासियों की कोई आवाज नहीं थी। उच्च पदों पर उनकी नियुक्ति पर रोक लगा दी गयी थी और एक क्लर्क से ऊपर उठने की कोई गुंजाइश नहीं थी। आन्तरिक प्रशासन इस प्रकार का था कि गवर्नरों और शासकीय स्टाफ में सलाहकार की हैसियत से देश के निवासियों के लिए सभी प्रकार का चिंतन करते थे अथवा उन्हें करने के लिए बाध्य किया जाता था। उन्होंने सर जोंस बाउले

1. वैल्थ ऑफ नेशंस (कैनर्स संस्करण), खड 2, पृष्ठ 139

अथवा "निर्धन का मित्र" (दी पुअर मैन्स फ्रेंड) की भूमिका बखूबी निभाई, जिसका वर्णन चार्ल्स डिकन्स ने इस प्रकार किया है– "प्रिय मित्र, आपका सम्बन्ध केवल मेरे साथ है। आपको कुछ सोचने का कष्ट करने की आवश्यकता नहीं है। मैं आपके लिए सोचूँगा, मैं जानता हूँ आपके लिए अच्छा क्या है, मैं आपका सनातन पिता हूँ, विधाता का यही विधान है। जो एक मनुष्य कर सकता है, वह मैं करता हूँ। गरीब आदमी के मित्र और पिता के रूप में अपना कर्त्तव्य करता हूँ। मैं उन्हें हर अवसर पर मुझ पर पूरी तरह निर्भर रहने की शिक्षा देता हूँ जो उस वर्ग के लिए आवश्यक है। उन्हें अपने बारे में सोचने की कोई आवश्यकता नहीं है।"

ऐसे बाउले जैसे लोगों ने निस्सन्देह भगवान का आदेश मान कर सोच-विचार किया होगा, लेकिन दुर्भाग्य से और स्वाभाविक रूप से उनकी सोच-विचार और करनी निश्चित रूप से इंग्लैंड के लिए अनुकूल और भारत के लिए घातक सिद्ध हुई। इंग्लैंड किस प्रकार खुशहाल हुआ जबकि भारत पतन की ओर गया, यह बात तब हमारे मन में अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। जब हम यह याद करते हैं कि 1600 ई. से कुछ समय पहले और कुछ समय पश्चात् इंग्लैंड की आर्थिक स्थिति क्या थी और उसके आर्थिक विकास में भारत का क्या योगदान रहा।

सर जोसिया चाइल्ड ने 1545 के पश्चात इंग्लैंड की बढ़ती हुई खुशहाली के बारे में बहुत ही दिलचस्प तुलनात्मक ब्यौरा दिया है। उनके अनुसार 1545 में इंग्लैंड का व्यापार बहुत कम था और व्यापारी बहुत ही कम तथा इने-गिने थे। पहले ऐसे बहुत कम लोग होते थे, जिनके पास एक हजार पौंड होते होंगे, लेकिन अब ऐसे काफी लोग मिल जाएँगे जिनके पास दस हजार पौंड से भी अधिक सम्पत्ति होगी। यदि इसमें सन्देह हो तो हम बुजुर्गों से पूछ सकते हैं कि क्या साठ वर्ष पहले एक बेटी के पास पच्चीस सौ पौंड की जायदाद होना आज दो हजार पौंड की जायदाद होने से बड़ी जायदाद नहीं समझा जाता था और क्या उन दिनों कुलीन औरतें सर्ज गाउन पहन कर गौरव का अनुभव नहीं करती थीं जिसे आज एक नौकरानी को पहनते हुए भी शर्म महसूस होती है। जहाँ पहले एक गाड़ी होती थी, अब सौ गाड़ियाँ हैं। हमारे पूर्वजों ने बीस वर्ष में जितना कर दिया होगा, हम अब उससे अधिक कर एक वर्ष में बड़ी आसानी से दे सकते हैं। हमें सीमा शुल्क से भी अब काफी अधिक आय होती है। मैं समझता हूँ अब हमें सीमा शुल्क के रूप में छह गुनी से भी अधिक आय होती है। यह वृद्धि वस्तुओं की दरों में वृद्धि से ही नहीं हुई अपितु व्यापार की मात्रा में वृद्धि के कारण अधिक हुई है।[1] 1600 ई. तक व्यापारी वर्ग इतना शक्तिशाली बन गया था कि "यदि व्यापारी वर्ग का वैर

1. 'डिस्कोर्स ऑफ ट्रेड' (1775), पृष्ठ 8-10
2. टी.बी. मैकाले, 'हिस्ट्री ऑफ इंग्लैंड', अध्याय 3

न होता तो चार्ल्स प्रथम कभी पराजित न होता और व्यापारी वर्ग ने सहायता न की होती तो चार्ल्स द्वितीय पुनः प्रतिष्ठित नहीं किया गया होता।"[2] भारत ने इंग्लैंड की खुशहाली में अनेक प्रकार से योगदान किया अथवा उसे बाध्य होकर ऐसा करना पड़ा।

धन-दौलत बढ़ाने के लिए व्यापार का सबसे अधिक महत्त्व है। स्टाक के भावों से परिस्थितियों का पता चलता है। यही मापदंड लागू करने पर हमें पता चल जाएगा कि भारत के व्यापार का इंग्लैंड में कितना महत्त्व था : "18वीं शताब्दी के दौरान कम्पनी के स्टाक का मूल्य सदैव अधिक रहा। 1720 में इसका भाव 450 पौंड था किन्तु 1775 में यह घटकर 148 पौंड हो गया। यह भाव लगभग वास्तविक मूल्य के बराबर ही था। औसत लाभांश 10 प्रतिशत मान लें, तो इसका अर्थ लागत मूल्य पर लगभग $5\frac{1}{3}$ प्रतिशत ब्याज होगा। इसका गिरना 1766 तक जारी रहा, जब बंगाल की माल गुजारी से लाभ की सम्भावना से बाजार में कृत्रिम रूप से तेजी आयी, जिससे इसका भाव बढ़ कर 233 पौंड हो गया। कर्नाटक में युद्ध के परिणामस्वरूप इसके भाव 60 प्रतिशत गिर गये। 1779 से 1788 तक कीमत बहुत उचित रही। यह औसत 150 पौंड रही यद्यपि 1784 के संकट के समय कम होकर 118 पौंड रह गयी थी। पिट्स एक्ट के पश्चात् कीमतें बढ़ीं और 1787 तक इसका भाव 185 पौंड 10 शि. हो गया। इसके बाद भावों में उतार-चढ़ाव बहुत कम हुआ। कम्पनी अब प्रभुता सम्पन्न शासक बन गयी थी और यह अब एक व्यापारिक निगम नहीं रह गयी थी। कम्पनी अपने शेयरधारियों को उचित ब्याज देने लगी और इसके स्टाक का भाव इसके लाभ के पूँजीकृत मूल्य के बराबर हो गया। सट्टेबाजी की अब कोई गुंजाइश नही थी। इसका तुलन-पत्र भारत के बाद के वर्ष के बजट से मेल खाने लगा।[3] शेयरधारियों को दिये गये लाभांश से भी स्पष्ट हो जाएगा कि भारत ने इंग्लैंड की सम्पत्ति में कितना योगदान किया। 1709 की यूनियन से पूर्व, व्यापार में यदि काफी उतार-चढ़ाव आता था, तो भी इसमें सदैव काफी लाभ होता था। 1682 में लाभांश 160 प्रतिशत तक पहुँच गया, लेकिन शताब्दी के अन्त में स्थिति काफी बदल गयी। 1709 में यूनियन के बाद यह मात्र 8 प्रतिशत रह गया जो 1710 में बढ़ कर 9 प्रतिशत हो गया और दो वर्ष बाद 10 प्रतिशत हो गया। इस शताब्दी के दौरान औसत दर 9 प्रतिशत रही और केवल 1768 से 1771 के बीच इसकी दर में वृद्धि हुई। 1723 में थोड़ी गिरावट फ्राँस की कम्पनी की प्रतिस्पर्धा के कारण हुई। उसके पश्चात् एक फीसदी की गिरावट पूँजी में वृद्धि और 1732 में स्वीडन की एक कम्पनी की स्थापना के बाद हुई। परन्तु 1774 में लाभांश की दर बढ़ कर पुनः 8 प्रतिशत हो गयी। कारनाटिक तथा यूरोप में लगातार युद्ध होते रहने के बावजूद यही दर बनी रही।[1] 1755 में अव्यवस्थित दशा ने आखिरकार प्रभावित किया और परिणामस्वरूप लाभांश दो प्रतिशत गिर गया। 1760 में वर्द्धमान व अन्य प्रांतों के द्वारा हथियार डाल दिये जाने पर कम्पनी का खर्च बढ़ गया

1. एफ.पी. रोबिन्सन-"ईस्ट इंडिया कम्पनी' पृष्ठ 161

और लाभांश 6 प्रतिशत रखा गया और इस प्रकार हर साल 1,91,644 पौंड लाभांश के रूप में बाँटे गये। 1767 में बंगाल की क्षेत्रीय सार्वभौमिकता स्वीकार करने के परिणामस्वरूप लाभांश की दर बढ़ा कर 10 प्रतिशत कर दी गयी और 3,19,408 पौंड लाभांश के रूप में बाँटे जाने लगे। यह वृद्धि अनुचित थी और इसका मुख्य कारण यह था कि भारत की सम्पन्नता के बारे में बढ़ा-चढ़ा कर अनुमान लगाया गया था। अधिक लाभ होने की उम्मीद में पहले से ही लाभांश बढ़ाकर घोषित कर दिया जाता, लेकिन वास्तव में लाभ कभी भी अधिक नहीं होता था। अधिक लाभांश का भुगतान ब्याज की ऊँची दरों पर ऋण लेकर क्या जाता था। कम्पनी पाँच वर्ष तक अच्छे दिन आने की उम्मीद में लड़ती रही, लेकिन 1772 में एकदम कि गरावट आयी और लाभांश 12 प्रतिशत से घटकर 6 प्रतिशत हो गया। तब लार्ड नार्थ ने हस्तक्षेप किया और लाभांश के मामले में सरकार की अनुमति लेना कम्पनी के लिए आवश्यक हो गया। इससे कम्पनी की आय बढ़ी और लाभांश धीरे-धीरे बढ़ता गया। 1792 में टीपू के साथ शान्ति सन्धि का परिणाम यह हुआ कि इससे कम्पनी को 2,40,000 पौंड का राजस्व प्राप्त हुआ और 1,600,000 पौंड क्षतिपूर्ति के रूप में मले। इससे लाभांश 2 प्रतिशत और बढ़ गया और 1802 में लाभांश 11 प्रतिशत हो गया।[2] इसके अलावा ईस्ट इंडीज में व्यापार करने वाली यूनाइटेड कम्पनी ऑफ मर्चेन्ट्स ऑफ इंग्लैंड द्वारा विशेषाधिकार प्राप्त करने के कारण इंग्लैंड की जनता को 1798 से 1803 के बीच श्री मैकफरसन के अनुसार 25,343,215 पौंड की राशि का भुगतान किया गया।[1] भारत ने इंग्लैंड की अमरीका के साथ लड़ाई में 3,858,666 पौंड की मदद देकर ही सहायता नहीं की, अपितु अमरीका में शिक्षा का प्रसार करने में भी सहायता की। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि श्री येल द्वारा अपने नाम से स्थापत येल कॉलेज की स्थापना, एक मात्र भारत के साथ व्यापार से हुई आय से की गयी। इंग्लैंड को भारत से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जो लाभ हुए उनमें से कुछ सेंट जार्ज टकर के अनुसार इस प्रकार हैं – (1) ईस्ट इंडिया कम्पनी को समय-समय पर क्षेत्रीय ऋण पर ब्याज का भुगतान करने के पश्चात् अपने अधिकृत क्षेत्रों से 15 लाख पौंड तक की अतिरिक्त आमदनी हुई और यह अधिशेष स्पष्ट रूप से भारत की ओर से इंग्लैंड को एक सीधा योगदान था। (2) लगभग 415 भाग क्षेत्रीय ऋण यूरोपीय ब्रिटेन के नागरिकों के नियन्त्रण में होने के कारण करीब 20 लाख पौंड के वार्षिक ब्याज की राशि में से अधिकांश राशि को भारत द्वारा इंग्लैंड को अप्रत्यक्ष रूप से दिया गया योगदान समझा जाना चाहिए। इस अप्रत्यक्ष अथवा प्राइवेट योगदान में बचतों, व्यापार से होने वाले लाभ को शामिल कर लिया जाये तो कुल राशि इस समय अर्थात् 1821 में श्री टकर के अनुमान के अनुसार 30 लाख रुपये बैठती है। (3) पूर्वी समुद्रों में एक पत्तन से दूसरे पत्तन

1. एफ.पी. राबिन्सन, 'ईस्ट इंडिया कम्पनी', पृष्ठ 159-161
2. 'यूरोपियन कॉमर्स विद इंडिया' (1812), परिशिष्ट-2
3. 'यूरोपियन कॉमर्स विद इंडिया' (1812), परिशिष्ट-2

तक माल की ढुलाई करने के लिए भारत में बने जहाजों का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार ढोया जाने वाला माल ग्रेट ब्रिटेन के कुल टनभार की तुलना में नगण्य नहीं था। (4) भारत पर कब्जा होने से समाज के एक अधिसंख्य वर्ग के लिए व्यवस्था करना आसान हो गया है जिसके लिए अन्य सभी देशों में तथा अपने देश में उचित व्यवस्था करना कठिन है। इसलिए, भारत की सेवा ही एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें अधिकांश लोगों को रखा जा सकता है और जिससे उनको तथा उनके देश को लाभ हो सकता है।

भारत ने इंग्लैंड की खुशहाली में इन तरीकों से योगदान करने के अलावा कई अन्य तरीकों से भी योगदान दिया। इन अप्रत्यक्ष तरीकों से लाभ होने के बावजूद इंग्लैंड ने भारत को नुकसान पहुँचाने के लिए कई प्रत्यक्ष और कठोर उपाय किये। भारत को नुकसान पहुँचाने के लिए इंग्लैंड ने सुरक्षा प्रणाली अपनाई। इंग्लैंड किसी भी तरह भारत में बनी वस्तुओं से प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता था। निर्माता के रूप में भारत इंग्लैंड से आगे था। परिवहन लागत के बावजूद इंग्लैंड के बाजारों में वहाँ के माल का स्थान भारतीय माल ने ले लिया था। भारत में बनी वस्तुओं की इस प्रतिस्पर्धा को नष्ट करने के लिए इंग्लैंड ने कठोर संरक्षणात्मक नीति अपनाई। निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट हो जाएगा कि भारत में बनी वस्तुओं पर काफी अधिक शुल्क लगाए जाते थे–

...एलोई रेचक दवा पी सी	280
...सा फोइफिदा	622
...जामिन	373
...रेक्स	102
इलायची	266
क्लोव (लोंग)	240
तेजपत्ता	140
कोक..स	400
कॉफी	373
क्यूबेक चीनी	320
ड्रेगन ब्लड (ताल रक्त)	465
गैम...... (गोंद)	187
एन एम नियाक	466
माइरफ	187
नक्स	266
आयल .... कसिया (तेजपत्ता का तेल)	343
दालचीनी का तेल	400
जावित्री	3000

जायफल	250
लोबान	400
मिर्च (काली)	400
मिर्च (सफेद)	266
रूबार्ब (.....)	500
चावल (.....)	150
रम (बंग...)	1142
साग	100
चीनी (बंग सफेद)	118
....	128
....	152

लेकिन इंग्लैंड ने इन चीजों पर ही ऊँची दर पर शुल्क नहीं लगाए। वह एक कदम और आगे बढ़ा और उसने भारत के माल के मामले में भेदभाव भी किया। इंग्लैंड ने विश्व के अन्य देशों से आने वाले माल की तुलना में भारत से आने वाले माल पर बहुत अधिक शुल्क लगाया। यह बात ईस्ट इंडीज तथा वेस्ट इंडीज एवं अन्य उपनिवेशों से आयात किये जाने वाले माल पर लगने वाले आयात शुल्क के बारे में एम एकलोच के वाणिज्यिक शब्दकोश में दिये आँकड़ों से स्पष्ट हो जाती है।

वस्तु	**ईस्ट इंडीज**			**वेस्ट इंडीज**		
	पौड	**शि.**	**पेंस**	**पौंड**	**शि.**	**पेंस**
चीनी (प्रति क्विंटल)	1	12	0	1	4	0
कॉफी (प्रति पौंड)	0	0	9	0	0	6
स्प्रिट (स्वीटेंड) (प्रति गैलन)	1	10	0	1	0	0
स्प्रिट नाट स्वीटेंड (प्रति गैलन)	0	15	0	0	8	6
इमली (प्रति पौंड)	0	0	6	0	0	2
फल पाक (प्रति पौंड)	0	0	6	0	0	3
तम्बाकू (प्रति पौंड)	0	3	0	0	2	9
लकड़ी टीक (8 वर्ग इंच प्रति लोड)	1	10	0	0	10	0
लकड़ी (अगणनीय)	20 प्रतिशत			5 प्रतिशत		

अंग्रेज भारतीय माल पर विभेदकारी शुल्क ही नहीं लगाते थे, बल्कि शुल्क लगाते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाता था कि वह वस्तु इंग्लैंड में किस काम आती है। यह तथ्य 1813 में हाउस ऑफ कॉमन्स की समिति के प्रश्नों पर श्री जौन राकिंग के उत्तरों से स्पष्ट हो जाएगा।

प्र. "क्या आप बता सकते हैं कि ईस्ट इंडिया हाउस में बेचे जाने वाले कपड़े के थानों पर यथा मूल्य शुल्क क्या है?"

उ. "कैलीको के कपड़ों पर 3 पौंड 6 शिलिंग और 8 पेंस प्रतिशत की दर से आयात शुल्क लगता है। और यदि उनका उपयोग घरेलू खपत के लिए होता है, तो उस पर 68 पौंड 6 शिलिंग 18 पेंस प्रतिशत अतिरिक्त शुल्क लगता है। एक अन्य किस्म का कपड़ा मलमल, जिसके आयात पर 10 प्रतिशत शुल्क लगता है और इसका घरेलू खपत के लिये इस्तेमाल किये जाने पर 27 पौंड 6 शिलिंग 8 पेंस प्रतिशत लगता है। तीसरी किस्म में रंगीन कपड़े आते हैं जिनका इंग्लैंड में उपयोग नहीं किया जा सकता उन पर 3 पौंड 6 शिलिंग 8 पेंस फीसदी शुल्क लगता है। इनका केवल निर्यात होता है।

संसद के इस सत्र में 20 फीसदी शुल्क लगाया गया है। इस शुल्क को मिलाकर घरेलू खपत कें काम आने वाले कैलीको कपड़ों पर 78 पौंड 6 शिलिंग 8 पेंस फीसदी शुल्क लगेगा और घरेलू खपत के काम आने वाली मलमल पर कुल 31 पौंड 6 शिलिंग 8 पेंस प्रतिशत शुल्क लगेगा।"

इतनी वसूली तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से संसद द्वारा की जाती थी। गवर्नरों तथा गवर्नर जनरलों द्वारा वसूल की जाने वाली राशि भी किसी तरह कम नहीं थी। यहाँ सर डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर के शब्दों को स्मरण करना आवश्यक है। भारत के सम्पर्क में आने पर यूरोप के लोगों के मनोबल का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है– मध्ययुगीनता से निकला ही था और एशियाई शासन यूरोप में अपने पहले प्रयोग कर रहा था। जीत की मध्यकालीन भावनाओं ने उसे पूर्वी दुनिया का शोषण करने के लिए बाध्य किया। मध्यकालीन प्रकार का वाणिज्य भारतीय व्यापार में जारी रखा गया। इन धारणाओं के प्रभावशाली होने पर पुर्तगाल, स्पेन, हालैंड ने एशिया में अपनी सत्ता जमा ली। अंग्रेज भारत में बाद में सत्ता में आये। उन्होंने यूरोप के सोलहवीं शताब्दी के आदर्शों के स्थान पर अठारहवीं शताब्दी के आदर्शों को मूर्त रूप दिया। यह अर्थ मध्यकालीन ईसाइयत का नया रूप था। फिर भी इंग्लैंड के लिए समय की परम्पराओं को तोड़ना अर्थात भारतीय व्यापार पर एकाधिकार और भारत सरकार का शासकों के अपने लाभ के प्रयोग करने की परम्परा को तोड़ना कठिन था।[1] स्वार्थ ने अवश्य ही भ्रष्ट विधानमंडल को विचलित किया परंतु राजनीति की बातें हमेशा

1. डब्ल्यू.डब्ल्यू. हंटर, 'ए हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया', भाग–1, पृष्ठ 6

समतल पर होती थीं जिनमें सिद्धान्तों का कोई स्थान नहीं होता था। अत: लोगों में भौतिक पदार्थ प्राप्त करने की होड़ लग गयी। सोना ही सबसे बड़ी आकांक्षा बन गयी। उस समय सोने को कितना महत्त्व दिया जाता था, इसके भारत में बहुत उदाहरण मिलते हैं।[1]

1757 में प्लासी की लड़ाई और 1761 में वंदवाश की लड़ाई के बाद बंगाल तथा मद्रास में अंग्रेजों को प्रभुत्व हो गया। अत: उन्होंने दोनों जीत का पूरा लाभ उठाया। प्लासी की लड़ाई में विजय के बाद क्लाइव वास्तव में राजा बनाने वाला बन गया। उसने अपना समर्थन उस नवाब को बेच दिया जिसने उससे अच्छी शर्तों का वायदा किया। नवाब व जागीरदारों से उसने केवल मोटी रिश्वतें ही नहीं लीं और स्थानीय अधिकारियों की इच्छाओं के विरुद्ध नमक पर एकाधिकार ही नहीं किया बल्कि उन्हें कुछ व्यवसायों पर एकाधिकार जमाने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जिससे मूल निवासियों का रोजगार ठप्प हो गया। परिणाम यह हुआ कि लोग बहुत परेशान व गरीब हो गये। मैकाले ने क्लाइव की सम्पत्ति व लोगों की गरीबी का विस्तार से वर्णन किया है। उनका कहना है– "क्लाइव के लिए धन की कोई कमी नहीं थी, वह जो चाहता, ले सकता था। उसके लिए बंगाल का खजाना खोल दिया गया था। भारतीय राजाओं द्वारा प्रयोग के पश्चात् वहाँ सिक्कों के ढेर लग गये थे। इन सिक्कों में विदेशी सिक्के भी थे जिनसे किसी यूरोपीय जहाज के आशा अन्तरीय में आने से पूर्व, वेनटियों ने पूर्व के ऊनी कपड़े और मसाले खरीदे थे। क्लाइव के आगे सोने–चाँदी और मुकुट के मालिकों तथा हीरों के ढेर लगा दिये गये और वह जो चाहता ले सकता था।" इस प्रकार कलकत्ता में बड़ी तेजी से विपुल सम्पत्ति एकत्र हो गयी जबकि तीस लाख इन्सानों की दशा अत्यन्त दयनीय हो गयी। अंग्रेजों का कुशासन इतना निकृष्ट कोटि का था कि एक समाज के अस्तित्व में होने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। रोम का उप वाणिज्य दूत, जिसने एक या दो वर्षों में एक प्रांत में कैमपोमिया के तटों पर संगमरमर के महल और स्नान घर बनाने, अम्बेर से पानी, चहकने वाले पक्षियों की दावत करने, तलवारियों की सेनाओं और जराफों के समूहों का प्रदर्शन करने पर रोक लगा दी थी, स्पेन का वायसराय जिसने मैक्सिको या लीमा को छोड़ कर सजे–सँवरे यानों को एक लम्बे कारवाँ और चाँदी के साज और नाल चढ़े लद्दू घोड़ों के साथ मदरीर में प्रवेश किया था, अब पीछे रह गये।

क्लाइव ने बंगाल की जनता को बर्बाद कर दिया। पहला गवर्नर जनरल हेस्टिंग महाराजा बन यगा। उनके द्वारा बनारस के राजा व अवध की बेगमों के साथ दुर्व्यवहार किये जाने और उनसे धन ऐंठे जाने तथा रोहेल्लों की सामूहिक हत्या किये जाने से 18वीं शताब्दी के महान राजनैतिक दार्शनिक एडमंड वर्क में उदार सहानुभूति जागृत हुई और उसने वारेन हेस्टिंग्स के विरुद्ध महाभियोग चला दिया, जैसा कि सिसरों ने इन्हीं कारणों से वरेस के

1. सी.बी. हर्टज 'द ओल्ड कोलोनियल सिस्टम' पृष्ठ 4

विरुद्ध किया था। वर्क ने पददलितों का समर्थन किया और उनके प्रति किये गये अन्याय को दूर करने और अपराधियों को दंडित करने का हर सम्भव प्रयास किया। उनके द्वारा जोरों से महाभियोग चलाये जाने और शेरडीन द्वारा इसमें सक्रिय भाग लिए जाने के बावजूद महाभियोग असफल रहा, लेकिन इसका प्रभाव हितकारी रहा। यह एक ऐसी असफलता थी जो सौ जीतों के बराबर थी। लार्ड मोरले ने "लाइफ ऑफ बर्क" में कहा है, "हेस्टिंग्स का निर्दोष ठहराया जाना कोई बड़ी बात नहीं है। उनके विरुद्ध महाभियोग चलाए जाने से एक बड़ा सबक यह मिला है कि एशिया के लोगों के कुछ अधिकार हैं और यूरोपीय लोगों के कुछ कर्तव्य हैं। एक उच्च जाति का कर्तव्य है कि वह पराधीन जाति के साथ अपने सभी व्यवहारों में तत्कालीन नैतिकता के उच्चतम सिद्धान्तों का पालन करें।" प्रथम धर्म प्रचारक होने तथा अपने देशवासियों तथा उनके दीन आश्रितों के बीच दया और प्रतिष्ठा के पक्षधर होने के नाते श्री वर्क हमारी चिरस्थाई श्रद्धा के पात्र हैं।

इसके परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष रूप से प्रशासनिक शोषण को आरम्भ में ही रोक दिया गया। किन्तु प्रशासन द्वारा कुछ अन्य परोक्ष तरीकों से शोषण किया जाता रहा अथवा होने दिया जाता रहा। शोषण के इन अप्रत्यक्ष तरीकों से अन्तर्देशीय परिवहन शुल्क आता है। कम्पनी के नौकर प्राइवेट व्यापार कर सकते थे और इस कारण उन्हें कोई शुल्क नहीं देना पड़ता था, लेकिन मूल निवासियों पर इस प्रकार के सभी शुल्क लगाए जाते थे और कड़ाई से वसूल किये जाते थे जिससे उनकी आर्थिक खुशहाली पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

इन शुल्कों के बारे में श्री होल्ट मैकेंजी का कहना है– "कुछ चीजों को प्रेसीडेंसी पहुँचने से पहले दस सीमाशुल्क कार्यालयों और उनके अधीनस्थ कई चौकियों से होकर गुजरना पड़ता है देश की टिकाऊ चीजों में से ऐसी बहुत कम चीजें हैं अथवा कोई भी नहीं है, जिनको बार–बार न रोका जाता हो। यह मान भी लिया जाये कि कोई वसूली नहीं की जाती थी और कोई विलम्ब नहीं होता था, तो भी इस प्रणाली से देश के वाणिज्यिक सम्बन्धों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि चौकियों की एक कतार से पृथक किये गये जिलों के बीच माल की अदला–बदली नहीं हो सकती। यदि मूल्यों में इतना अन्तर नहीं है कि न केवल सौदे पण्य की परिवहन लागत और अन्य खर्चे पूरे हों अपितु सरकार द्वारा लगाया गया 5 या 7½ प्रतिशत शुल्क भी पूरा हो जाये। इससे भी मूल्यों में स्वाभाविक असमानता बढ़ जाती है और खपत कर के मामले में लागू प्रत्येक सिद्धान्त के उचित होने के बावजूद इसका बोझ उन स्थानों पर पड़ता है जहाँ उपभोक्ताओं को शुल्क न होने पर भी अधिकतर भुगतान करना पड़ता है। लेकिन जब सरकारी माँग के साथ–साथ सीमा शुल्क कार्यालयों के अधिकारियों द्वारा भी माँग की जाती है तो यह निश्चित प्रतीत होता है कि कम पूँजी वाले लोगों का व्यापार काफी हद तक बन्द हो जाएगा। अमीर व्यापारी से तो जितनी भी माँग की जाये वह भुगतान कर सकता है क्योंकि निवेश की राशि काफी है अतः बहुत सी राशि का भुगतान करने पर

भी उसका इतना असर नहीं होगा और अमीर आदमी अपने धन के बल पर अन्यायपूर्ण खसोट से बच जाएगा। लेकिन एक छोटे-मोटे व्यापारी पर मामूली-सा शुल्क लगाने पर भी उसको होने वाला लाभ चौपट हो जाएगा और वह सन्तुलन नहीं बना रख पाएगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि अब इंग्लैंड के अधिकारियों और व्यापारियों का ध्यान मुख्य रूप से युनाइटेड किंगडम में बनी वस्तुओं के लिए बाजार खोजने की ओर गया है। यही कारण है कि उन्होंने भारत से निर्यात की अपेक्षा भारत में आयात की ओर अधिक ध्यान दिया है। तदनुसार 1810 के विनिमय 9 के अन्तर्गत इंग्लैंड से भारत भेजी जाने वाली बहुत सी वस्तुओं पर शुल्क नहीं लगाया है जबकि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में केवल नील, कपास, ऊन और गांजा पर ही शुल्क नहीं लगाया गया है और मैं समझता हूँ ऐसा भारत को लाभ पहुँचाने की बजाय इंग्लैंड को लाभ पहुँचाने के उद्देश्य से किया गया है।"

इन अन्तर्देशीय परिवहन शुल्कों के बारे में लार्ड ऐलनब्रो ने जो कुछ कहा है उसे जानना भी लाभप्रद होगा– "जबकि इंग्लैंड में बनी कपास की वस्तुओं का आयात करने पर उन पर 2½ फीसदी शुल्क का भुगतान करना पड़ता है, भारत में बनी कपास की वस्तुओं के मामले में पहले धागे पर 7½ फीसदी अतिरिक्त शुल्क देना पड़ता है और फिर निर्मित वस्तुओं पर 2½ फीसदी अतिरिक्त शुल्क देना पड़ता है। इसके पश्चात 2½ फीसदी शुल्क तब देना पड़ता है जब कपड़े की रंगाई इसे श्वेत कपड़े के रूप में बाहर ले जाने का पास ले लेने के बाद की जाती है। इस प्रकार कुल मिला कर भारत में बनी और भारत में इस्तेमाल की जाने वाली सूत से बनी वस्तुओं पर 17½ फीसदी शुल्क देना पड़ता है। खाल पर 5 फीसदी शुल्क लगता है और इससे चमड़ा बनाया जाता है तो 5 फीसदी शुल्क और देना पड़ता है। चमड़े से बूट और जूते बनाने पर 5 फीसदी अतिरिक्त शुल्क लगता है। इस प्रकार भारत में बनी और भारत में इस्तेमाल की जाने वाली चमड़े की वस्तुओं पर कुल मिलाकर 15 फीसदी शुल्क लगता है। हम अपनी चीनी के मामले में भी क्या करते हैं? एक कस्बे में चीनी का आयात करने पर 5 फीसदी सीमा शुल्क लगता है और 5 फीसदी नगर शुल्क लगता है और जब इसे उस कस्बे से बाहर भेजा जाता है तो 5 फीसदी और शुल्क देना पड़ता है। इस प्रकार भारत में बनी और भारत में इस्तेमाल की जाने वाली चीनी पर कुल 15 फीसदी शुल्क लगता है। कम से कम 235 वस्तुओं पर अन्तर्देशीय शुल्क लगते हैं। निजी अथवा घरेलू प्रयोग की प्राय: सभी वस्तुओं पर शुल्क लगता है। इसकी वसूली और जाँच पड़ताल प्रणाली बहुत ही कष्टदायक और आपत्तिजनक है और इससे वास्तव में राजस्व विभाग को कोई लाभ नहीं होता। प्रत्येक सीमा शुल्क अधिकारी वास्तव में तलाशी के अधिकार का प्रयोग करे, तो अनिवार्य रूप से इससे जो विलम्ब होगा, उससे अन्तरिक व्यापार बन्द हो जाएगा। इस अधिकार का प्रयोग लूट-खसोट के लिए ही किया जाता है, अन्यथा नहीं।"

इसके अलावा भारत की मुद्रा भी एक नहीं थी। अतः इन सभी चीजों से भारत के उद्योगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। फ्रेडिरिक लिस्ट का कहना है– "यदि उन्होंने भारत में बने सूती व रेशमी कपड़ों का इंग्लैंड में निःशुल्क आयात करने की अनुमति दे दी होती तो इंग्लैंड के कपास और रेशम के कपड़ा निर्माताओं को जल्दी ही बात समझ में आ जाती। भारत में न केवल मजदूरी और कच्चा माल ही सस्ता था, अपितु इसे सदियों का अनुभव और कौशल भी प्राप्त था।"

श्री एच.एच. विल्सन, भारत के इतिहासकार का विचार और अधिक सुनिश्चित है। उन्होंने स्वीकार किया है कि यह एक शोचनीय दृष्टान्त है– "उस देश ने भारत के साथ काफी अन्याय किया है, जिस पर वह आश्रित हो गया है। 1813 के साक्ष्य में बताया गया कि उस समय तक भारत के सूती और रेशमी कपड़े इंग्लैंड के बाजार में मुनाफे पर बेचे जा सकते थे और जिस मूल्य पर इंग्लैंड में ऐसे कपड़े बेचे जाते थे वह इंग्लैंड में बने कपड़ों के मूल्य के 50 से 60 प्रतिशत कम होता था। इसके परिणामस्वरूप भारत में बने कपड़ों पर उनके मूल्य के आधार पर 70–80 फीसदी शुल्क लगाकर या उन पर रोक लगा कर इंग्लैंड में बनने वाले वस्त्रों की रक्षा करना आवश्यक हो गया। यदि ऐसा न किया गया होता, यदि निषेधात्मक शुल्क और डिक्री न लगी होती तो वैसले और मैनचेस्टर की मिलें शुरू में ही बन्द हो गयी होतीं और भाप की शक्ति से भी मुश्किल से ही पुनः चालू हुई होतीं। भारत के उद्योगों को बलि चढ़ाकर ही इन्हें स्थापित किया गया। भारत उस समय आजाद होता तो जरूर बदला लेता, ब्रिटेन की चीजों पर निषेधात्मक शुल्क लगाता और इस प्रकार अपने उत्पादनकारी उद्योग को नष्ट होने से बचाता। परन्तु भारत को आत्मरक्षा में ऐसी कार्यवाही नहीं करने दी गयी। भारत एक विदेशी शक्ति की दया पर निर्भर हो गया। ब्रिटेन का सामान शुल्क दिये बिना भारत पर थोप दिया गया और विदेशी निर्माता ने, भारतीय प्रतियोगी को दबाए रखने और अन्ततः उसका गला घोटने के लिए जिसका वह समान परिस्थितियों में मुकाबला नहीं कर सकता था, राजनैतिक अन्याय का सहारा लिया। श्री चैपलिन के शब्दों में– ''इसका परिणाम यह हुआ कि कई निर्माता अपने निर्वाह के लिए कृषि कार्य करने लगे हैं, जबकि इस क्षेत्र में पहले ही जरूरत से ज्यादा लोग कर रहे हैं।"

इस प्रकार भू–राजस्व नीति ने कृषि को नष्ट कर दिया और इंग्लैंड की निषेधकारी संरक्षणात्मक नीति ने उस देश के उद्योगों को नष्ट कर दिया, जिसकी धन–दौलन पर वे मधु–मक्खियों की तरह मंडराने लगे और जिसने उन्हें सराबोर कर दिया।

इसके परिणामस्वरूप भारत के लोगों की हालत बहुत ही जर्जर हो गयी। इसका अनेक यात्रियों तथा गवर्नरों ने मार्मिक वर्णन किया है। पादरी हैवर ने जिसने 1830 के आसपास भारत की यात्रा की, लिखा है "मैं समझता हूँ कि करों की वर्तमान दरें होने पर न तो मूल निवासी और न ही यूरोपीय कृषक फल–फूल सकते हैं।" आधी कृषि उपज सरकार

ले लेती है और यह दर जो लगभग औसत दर है जहाँ कहीं स्थाई बन्दोबस्त नहीं है, इतनी अधिक है कि इससे वर्तमान आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं होतीं, जबकि भारतवासी मितव्ययी आदत के हैं और बहुत ही अकृत्रिम तथा सस्ते ढंग से खेती करते हैं। अधिक दुःख की बात यह है कि ऐसी स्थिति में कोई सुधार नहीं किया जा सकता और अच्छी फसल होने पर भी लोग दरिद्र रहते हैं। जब फसल थोड़ी भी खराब होती है, तो सरकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि यह छूट देने और वितरण करने पर बहुत व्यय करे। ऐसा होने पर भी अनेक नर-नारी तथा बच्चों की मृत्यु हो जाती है और सड़कों तथा गलियों में शवों के ढेर लग जाते हैं। बंगाल में जहाँ भूमि उपजाऊ होने के साथ-साथ स्थाई निर्धारण है कभी अकाल नहीं पड़ता। दूसरी ओर हिन्दुस्तान (उत्तरी भारत) में राजा के अधिकारियों की यह आम धारणा है और कुछ परिस्थितियों के कारण मुझे भी उनसे सहमत होना पड़ा कि कम्पनी के प्रांतों से किसानों की हालत कुल मिला कर बहुत ही खराब है और वे देशीय राजाओं की प्रजा से अधिक निर्धन और निराश हैं और यहाँ मद्रास में जहाँ जमीन आम तौर पर खराब है, अन्तर और भी अधिक है। तथ्य यह है कि कोई भी देशी राजा ऐसा लगान नहीं लेता जो हम लेते हैं। इस बात का ध्यान रखते हुए कि हमारी प्रणाली सुव्यवस्थित है, मुझे ऐसे बहुत कम लोग मिले, जिन्होंने गुप्त रूप से हमें यह न बताया हो कि लोगों पर कर अधिक लगाए गये हैं और देश धीरे-धीरे कंगाल होता जा रहा है। समाहर्ता सरकारी तौर पर यह स्वीकार नहीं करना चाहते। निस्सन्देह बीच-बीच में कोई योग्य समाहर्ता लोगों पर लगने वाले करों की दर कम करने में सफल हो जाता है, जबकि परिश्रम करके राज्य के लिए अधिक वसूली करता है।

लेकिन आमतौर पर वे धुँधली तस्वीरें पेश नहीं करते क्योंकि वे उनका प्रतिबिम्ब होती हैं और ऐसा करने पर मद्रास अथवा कलकत्ता के सचिव उनकी निन्दा कर सकते हैं। सचिव भी अपनी ओर से जिस सत्यनिष्ठा से निदेशक अधिक धन की माँग करते हैं उसकी वकालत करते हैं। व्यापार और उद्योग के बारे में उनका कहना है, "सूरत में अब बहुत कम और केवल कपास का व्यापार होता है, जो नावों में बम्बई भेजी जाती है। देश का तैयार माल अंग्रेजों द्वारा काफी सस्ता बेचा जाता है। इस कारण देशी व्यापारियों की स्थितियों मे काफी गिरावट आयी है।" ढाका के पतन के बारे में उसी अधिकारी का कहना है, "इसका व्यापार घट कर पहले की अपेक्षा सातवाँ हिस्सा रह गया है और इसकी सभी शानदार इमारतें व कारखाने और फ्राँस, डच, पुर्तगाली राष्ट्रों के गिरजाघर खंडहर बन गये हैं जिन्हें जंगलों ने ढक लिया है।

अपनी दुर्दशा को सुधारने के लिए मूल निवासियों ने संसद को यह कहते हुए आवेदन किया, "अन्य देशों में बनी तथा ब्रिटेन के उद्योग द्वारा निर्मित वस्तुओं के इंग्लैंड से भारत को निर्यात के मामले में हर सम्भव प्रोत्साहन दिया जाता है, जबकि भारत के कई हजार मूल निवासी जिनका कुछ समय पूर्व तक आजीविका का साधन कपास की

खेती करना और कपास के कपड़े बनाना था, आज भूखे मर रहे हैं क्योंकि इनका स्थान अब अमरीका के उत्पाद तथा इंग्लैंड के निर्माण उद्योग ने ले लिया है।" लेकिन अपील व्यर्थ गयी और उनकी नजरों में इंग्लैंड का हित ही सदैव सर्वोपरि रहा, जिन्हें विधाता ने भारत का शासक बनाया था।

यद्यपि, जैसा कि पादरी हेबर ने ठीक ही कहा है, कम्पनी के अधिकारी लोगों की दुर्दशा की धूमिल तस्वीरें नहीं देते। उनमें ऐसे लोग भी हैं जो स्वतन्त्र विचारों के होने के कारण ऐसी चीजें स्पष्ट रूप से कहते हैं।"

निदेशकों की कोर्ट ने 7 मई, 1766 को लिखा, "हमें अपने नौकरों के भ्रष्टाचार और लाभ तथा पूरे उपनिवेश में आचरण की व्यापक चरित्रहीनता से उत्पन्न शोचनीय स्थिति का बोध है। हम मानते हैं कि बहुत ही अन्यायपूर्ण और दमनात्मक आचरण से विपुल सम्पत्ति एकत्र की गयी है, जिसकी मिसाल पहले किसी देश में नहीं मिलती।"

क्लाइव यद्यपि स्वयं एक अपराधी था, दमन के बारे में जानता भी था, क्योंकि उसने 18 सितंबर, 1766 को जार्ज डुडले को लिखा, "पिछले कई वर्षों में जो कुछ हुआ है, उसकी जाँच की जाये तो ऐसी चीजें सामने आएँगी, जो हमारा नाम रोशन नहीं करेंगी, अपितु उनसे देश की बदनामी होगी, साथ ही महान तथा अच्छे परिवारों की प्रतिष्ठा को क्षति पहुँचेगी।"

सर थामस मुनरो कम्पनी के कुशासन से इतना रुष्ट था कि उन्होंने कहा– "हमारी शासन प्रणाली से पूरे समाज की इतनी अवनति हो इससे बेहतर होगा कि हमें देश से निष्कासित कर दिया जाए।" श्री मार्टिन ने अपनी 'ईस्टर्न इंडिया 1838' में कहा है "ब्रिटिश भारत पर 3000,000 पौड का सालाना खर्चा 12 प्रतिशत चक्रवृद्धि ब्याज (सामान्य भारतीय दर) पर तीस वर्षों में 723,900,000 पौंड हो जाता है। लगातार इतना खर्चा इंग्लैंड में होता तो इंग्लैंड जल्दी कंगाल हो जाता, ऐसी स्थिति में भारत पर इसका कितना गंभीर प्रभाव पड़ा होगा, जहाँ एक मजदूर को एक दिन में 2 या 3 पैसे मजदूरी मिलती है। यदि भारत में रहने वाले 10 करोड़ ब्रिटिश नागरिक उपभोक्ता बन जाते, तो ब्रिटेन की पूँजी कौशल और उद्योग को कितना बड़ा बाजार मिल गया होता।" बंगाल सिविल सेवा के फ्रडरिक जान शोर ने कारुणिक ढंग से कहा, "लेकिन भारतीयों के शान्तिपूर्ण दिन समाप्त हो गये हैं। भारत की विपुल धन–दौलत में से काफी धन खर्च हो गया है। भारत की शक्ति स्वार्थपरायण कुप्रशासन के कारण कम हो गयी है, क्योंकि लाखों लोगों के हित को तिलांजलि देकर केवल कुछ ही लोगों को लाभ पहुँचाया गया है। ब्रिटिश सरकार ने जो शासन प्रणाली स्थापित की, उससे देश तथा देश की जनता धीरे–धीरे कंगाल हो गयी। ब्रिटिश सरकार की लूट–खसोट से देश तथा जनता इतनी कंगाल हो गयी है कि इसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती। अंग्रेजों का मूल सिद्धान्त पूरे भारतीय राष्ट्र को हर प्रकार से उनके अपने हितों को बढ़ावा देने का एक

साधन मात्र बनाना था। यदि हमारा उद्देश्य लोगों का कल्याण करना होता, तो एक अलग ही रास्ता अपनाया गया होता और एक अलग ही परिणाम निकलता।"

लेकिन ऐसा नहीं होना था, बल्कि ऐसा होता तो अस्वाभाविक होता, क्योंकि मिल का कहना है, "एक जाति की सरकार का एक अर्थ होता है और यह वास्तविकता है, लेकिन एक जाति के लिए दूसरी जाति द्वारा सरकार न होती है और न हो सकती है। एक जाति दूसरी जाति को अपने निजी लाभ के लिए रख सकती है। उनसे धन कमा सकती है और उनका अपने निवासियों के लिए प्रयोग कर सकती है।"

ईस्ट इंडिया कम्पनी का प्रशासन रोमन प्रांतीय प्रशासन का प्रतिरूप था। तथापि रोम साम्राज्य के अधीन स्थानीय स्वतन्त्रताएँ सुरक्षित थीं। मोनसेन का कहना है, "रोमन प्रांतीय संविधान के अन्तर्गत रोमन गवर्नर को वास्तव में केवल सैनिक शक्ति प्राप्त थी, जबकि प्रशासन और न्याय व्यवस्था समुदायों के हाथ में था अथवा उन्हें देना अभिप्रेत था, ताकि जीवन के लिए आवश्यक अपूर्व राजनैतिक स्वतंत्रता, साम्प्रदायिक स्वतन्त्रता के रूप में सुरक्षित रखी जा सके।"

लेकिन अंग्रेजों ने हर चीज का दमन किया और जैसा कि श्री फैरेरो ने कहा है, "हमें इस गलतफहमी में नहीं रहना चाहिए कि रोम द्वारा अपने प्रांतों का प्रशासन उदार भावना से चलाया जाता था, आम लोगों के हित का ध्यान रखा जाता था और प्रजा की भलाई के लिए सरकार द्वारा लाभप्रद सिद्धान्तों का पालन किया जाता था," उसी प्रकार हमें ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रशासन के बारे में इतिहासकारों में व्याप्त उपकारी दृष्टिकोण से भी सावधान रहना चाहिए, जो यह दर्शाने का भरसक प्रयास करते हैं कि 1700 वर्षों के अन्तराल में नैतिक स्तर की दृष्टि से मानव स्वभाव में काफी सुधार हुआ है।

ईस्ट इंडिया कम्पनी से पूर्व की स्थिति के बारे में हमारी चर्चा यहाँ संक्षिप्त रही है, लेकिन फिर भी यह दर्शाने के लिए पर्याप्त है कि मुगलों और मराठों का स्थान लेने वाले लोगों का नैतिक स्तर अधिक ऊँचा नहीं था और तथाकथित देशज निरंकुश शासकों तथा लुटेरों के अधीन भारत की आर्थिक स्थिति उन लोगों के शासनकाल में आर्थिक स्थिति से बेहतर थी, जो उच्च संस्कृति होने की डींग मारते थे।

जिस समय ब्रिटिश सरकार ने ईस्ट इंडिया कम्पनी से शासन सँभाला, उस समय भारतीय उद्योग नष्ट हो गये थे, कृषि पर आश्रित लोगों की संख्या अत्यधिक हो गयी थी, इस पर बोझ काफी बढ़ गया था और उत्पादकता इतनी कम हो गयी थी कि इसके लिए करों का बोझ वहन करना कठिन हो गया था और मूल निवासियों के लिए आजीविका के बहुत कम साधन रह गये थे।

भाग दो

अध्याय 1.   अछूत और ब्रिटिश सरकार

123 टाईप किए हुए पृष्ठों की यह पांडुलिपि ब्रिटानिया सरकार द्वारा दलित वर्गों की उपेक्षा के बारे में है। ब्रिटानिया सरकार ने दलित वर्ग के लोगों की सशस्त्र सेनाओं के सदस्यों के रूप में भर्ती नहीं की। डॉ. अम्बेडकर के मराठी जीवनी लेखक श्री सी.बी. खैरमोड के अनुसार यह पांडुलिपि लंदन में गोल मेज सम्मेलनों के लिए अपने निवास के दौरान डॉ. अम्बेडकर द्वारा तैयार की गयी थी। इसका पहला पृष्ठ गायब है। पांडुलिपि जिस रूप में मिली उसी को यहाँ (हिंदी अनुवाद में) छापा गया है। – संपादक

अध्याय 1

अछूत और ब्रिटानिया सरकार

एक

अमरीकी महाद्वीप की उनकी यात्रा का उद्देश्य भारत पहुँचना था। कोलम्बस ने अकस्मात यह यात्रा आरम्भ नहीं की। यह भारत के लिए एक समुद्री मार्ग की खोज की योजना का हिस्सा थी। उन्हें इसके लिए सबसे पहले पुर्तगाल के राजा हेनरी से प्रेरणा मिली, जो इसमें काफी दिलचस्पी लेते थे। राजा हेनरी ने 42 वर्षों (1418–1460) के अपने शासनकाल में इसमें हर प्रकार से सहायता की।

यूरोप से भारत के बीच सीधे समुद्री मार्ग की इस खोज की क्या आवश्यकता थी इसका अंदाजा इस बात से ही लगाया जा सकता है कि इसने पुर्तगाल, हालैंड, फ्राँस और इंग्लैंड के लोगों को अपने एकान्तवास से बाहर आने के लिए प्रेरित किया। परंतु केवल एक ही राष्ट्र द्वारा जोखिम उठाए जाने से अंग्रेज भारत नहीं पहुँच गये। इसके लिए कई राष्ट्रों ने मिल–जुल कर उपाय किये। प्रत्येक यूरोपीय राष्ट्र में इतनी उत्सुकता थी कि इस सामंजस्य के बावजूद यूरोपीय देशों में भारत पहले पहुँचने की होड़ लग गयी। पुर्तगाली पहले पहुँच गये तो इसका यह अर्थ नहीं है कि दूसरे सुस्त अथवा निष्क्रिय थे। अंग्रेजों और हालैंड के लोगों की धारणा थी कि भारत पहुँचने का आशा अन्तरीप के अलावा दूसरा छोटा रास्ता भी है और उनके भारत पहुँचने में विलम्ब का कारण यह था कि वे इसकी सम्भावनाओं का पता लगाने में व्यस्त थे। फ्राँसीसी यद्यपि अन्त में पहुँचे, तथापि पुर्तगालियों के बाद उनका दूसरा स्थान है। उन्होंने सबसे पहले 1529 में सुमात्रा की यात्रा की।

भारत पहुँचने की इस उत्सुकता का क्या कारण था? पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैंड, फ्राँस और हालैंड के लोगों में भारत पहुँचने का समुद्री मार्ग ढूँढ़ने के लिए सदियों तक आपस में होड़ क्यों लगी रही? इसका उद्देश्य विलास की सामग्री और विशेष रूप से मसाले, मिर्च, लौंग, जायफल आदि प्राप्त करना था जो केवल भारत तथा पूर्व से ही मिल सकते थे। यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि इन सभी की दौड़ मसालों के लिए थी। लेकिन तथ्य यह है कि मसालों ने यूरोप के विस्तार में मुख्य भूमिका निभाई। यूरोप के लोग पन्द्रहवीं व

1. यूरोपियन बैकग्राउंड ऑफ अमरीकन हिस्ट्री, पृष्ठ 10–11

सोलहवीं शताब्दी में मसालों का कितना प्रयोग करते थे या उनका रसास्वादन करते थे, यह प्रोफेसर चैने द्वारा एकत्र किये गये निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट हो जाएगा।[1]

"मध्यकाल में मुख्य विलास वस्तु के रूप में खाने वाले मसाले, शराब और बीयर का विभिन्न प्रकार के मसालों के साथ लगातार प्रयोग होता था। सर थोपा के जंगल में जावित्री पैदा होती थी और बीयर तैयार किया जाता था। प्रोइसारट राजा के अतिथियों को महल में ले जाया जाता था, तो उनके आगे शराब और मसाले रखे जाते थे। मार्सलेज की एक लड़की के दहेज में 1224 ई. में अदरख, इलायची, जावित्री, कूर्लजन दिये गये। जोहन बाल ने सामन्तों और किसानों की दशा में वैषम्य दिखाते हुए कहा, उन्हें शराब, मसाले और बढ़िया रोटी मिलती है, तो हमें राई और घास-फूस मिलती है। जब पुराने लटीनर को खूंटे से बाँधा जा रहा था, तो उसने यादगार के रूप में अपने दोस्तों को जायफल दिया। मिर्च जो बहुत ही साधारण वस्तु है और साथ ही सबसे मूल्यवान मसाला है, उपहार के रूप में धन के स्थान पर अक्सर दी जाती थी। "मटिलडा चौसर, राजा को उपहार के रूप में मिला, और उसकी भूमि का मूल्य 8 पौंड 2 शिलिंग 1 पेंस और एक पौंड मिर्च, 1 पौंड दालचीनी व 1 ओंस रेशम था।" इस बात का उल्लेख एक प्राचीन अंग्रेजी सर्वेक्षण में है। इन मसालों की माँग और खपत आश्चर्यजनक है। वीनस, इटली तथा भूमध्य देशों के कई जहाज इन चीजों से भरे पश्चिम की ओर आते थे और इन चीजों की बिक्री हर जगह मेलों और बाजारों में होती थी। मिर्च की शराब को गम्भीर रूप से नहीं लिया जाता था, फिर भी इसकी बेकदरी नहीं होती थी। जर्मनी के लुटेरे सामन्तों ने व्यापारियों पर इसका प्रयोग किया, जिन्हें उन्होंने राइन नदी पार करने पर लूट लिया। वीनस के व्यापारियों ने मिस्र के सुलतान के साथ कई वर्षों के लिए इकरारनामा किया हुआ था, जिसके अन्तर्गत सुलतान से हर वर्ष 420,000 पौंड मिर्च खरीदी जानी थी। आरम्भ में जो जहाज भारत पहुँचे, उनमें से एक में 210,000 पौंड मिर्च लायी गयी। 1520 ई. में पुर्तगाल ने भारत के एक राजा पर 200,000 पौंड मिर्च का जुर्माना लगाया। इतिवृत्तों, पाकशास्त्र, व्यापार सूचियों तथा सीमा शुल्क सूचियों में मसालों का जिक्र आज की ही तरह बार-बार आया है।"

उस समय के यूरोप के लोगों के लिए मसाले इतने आवश्यक क्यों थे? इसका एक उत्तर है—स्वाद। मध्य युगीन यूरोप में खाना मोटे अनाज का बना होने, ठीक ढंग से न बना होने और एक जैसा होने के कारण, उसमें कई कमियाँ महसूस होती थीं जिन्हें काफी मात्रा में प्राच्य मसाले डालकर पूरा किया जाता था।[1] जहाँ सभी के लिए यह स्वाद का मामला था, गरीबों के लिए यह आवश्यकता थी। गरीबों को मसालों की जरूरत थी। प्राचीन काल में जब अन्न की कमी थी और मशीनें न होने के कारण मनुष्य की उत्पादकता बहुत कम थी तो चीजों को बर्बाद करना या बासी समझकर फेंक देना सम्भव नहीं था। जो कुछ खाना बच जाता था या तत्काल खपत के लिए आवश्यक नहीं होता था उसे सम्भाल कर रखा जाता था। मसाले तो सबसे बढ़िया प्रिजरवेटिव हैं। इस कारण तथा इसके साथ ही स्वाद

1. चेने, पृष्ठ 10

की वजह से ही मध्य युगीन यूरोप में मसालों की हर जगह इतनी अधिक माँग थी।

दूसरा प्रश्न यह है कि यूरोप के राष्ट्रों के लिए भारत पहुँचने का सीधा समुद्री मार्ग खोजना व मसाले ले जाना क्यों आवश्यक था? यूरोप के राष्ट्रों द्वारा भारत के लिए सीधा समुद्री मार्ग खोजे जाने से पूर्व भारत के लिए बरास्ता आशा अन्तरीप तीन सड़क मार्ग थे, जिनके द्वारा आराम का सामान व मसाले यूरोप पहुँचते थे। ये मार्ग उत्तरी, मध्य व दक्षिणी मार्ग कहलाते थे।

उत्तरी मार्ग सुदूर पूर्व और पश्चिम के बीच या जो चीन के भीतरी प्रदेशों से आरम्भ होकर पश्चिम की ओर बड़े रेगिस्तान गोबी को पार करता हुआ सैलेस्टियस पहाड़ के दक्षिण में होकर लोपझील जाता था और उसके बाद पुराने नगरों– खोजान, मारकंड, कशगर, समारो तथा बुखारा की श्रृंखला को पार करके अन्त में कैस्पियन सागर के क्षेत्र में पहुँचाता था। यह मुख्य उत्तरी मार्ग, उन अन्य मार्गों से जुड़ा हुआ था, जो हिमालय और हिन्दूकुश से गुजरते थे और भारत तथा चीन के माल को संयुक्त धारा में लाते थे। रेगिस्तान व पहाड़ की अस्सी से सौ दिन की यात्रा, चीन की दीवार व कैस्पियन सागर के मध्य होती थी। चीन में इसके भी उत्तर में एक समानान्तर सड़क रेगिस्तान व पहाड़ों के उत्तर व बलकाश झील से होकर उसी पुराने शहर कैस्पियन सागर के पूर्व पहुँचती थी। यहाँ कारवाँ के मार्ग फिर अलग हो जाते थे। कुछ दक्षिण पश्चिम चले जाते थे जहाँ वे अधिक केन्द्रीय मार्गों से मिल जाते थे जिनका वर्णन पहले हो चुका है और अन्ततः एशिया माइनर व सीरिया से होते हुए काला सागर व भूमध्य सागर पहुँचते थे। दूसरे कैस्पियन सागर के उत्तरी तट के आसपास सड़क मार्ग से गुजरते थे या इसको पार करते थे और अस्ट्राखान पहुँचते थे जहाँ से रास्ता वोल्गा होकर नदियों को पार करके अन्तिम स्थान टाना काले सागर के पास डोन के मुहाने या क्रीमिया के काफा स्थान पर पहुँचते थे।

मध्य मार्ग मैसोपोटामिया और सीरिया होकर लेवात जाता था। भारत के जहाज एशियाटिक तट के साथ–साथ फारस की खाड़ी तक जाते थे। और अपना कीमत सामान चलदिया या निचले यूफ्रेटस के बाजारों में बेचते थे। व्यापारिक नगरों की एक पंक्ति इसके तट पर खाड़ी के मुहाने के पास ओरजम से बसरा तक जाती थी और इन चीजों से लदे जहाज इन सभी नगरों में सामान उतारने के लिए रुकते थे। इनमें से बहुत से तटवर्ती शहर कारवाँ का अन्तिम स्टेशन थे। ये मार्ग फारस के विभिन्न प्रांतों से मिले हुए थे और अफगानिस्तान के दर्राओं से होकर उत्तरी भारत पहुँचते थे। फारस की खाड़ी के ऊपर से एक मार्ग टिगरी होकर बगदाद जाता था। इस बिन्दु से माल व्यापारियों द्वारा कुर्दिस्तान के रास्ते फारस की उत्तरी राजधानी टेबरिज और वहाँ से पश्चिम की ओर या तो काले सागर या भूमध्य सागर के किनारे लेयास ले जाया जाता था। एक और मार्ग ऊँटों के लिए था, जो बसरा से पश्चिम की ओर फैले हुए रेगिस्तान से होते हुए सीरिया के नगर अलैप्टो, एंटिपोच ओर दमस्कस पहुँचता था। अन्त में वे भूमध्य सागर के किनारे लाओडीसिया, ट्रिपोली, बेरूत या जाफा पहुँचते थे, जबकि कुछ माल तो दूर दक्षिण में अलेक्जेंड्रिया ले जाया जाता था।

दक्षिणी मार्ग आखिर के कुछ स्थानों को छोड़कर पूरा समुद्री मार्ग ही था। यह लाल सागर से गुजरता था और इसके रास्ते से भारत और सुदूरपूर्व का माल, समुद्र के रास्ते मिस्र लाया जाता था। वहाँ से नील के मुहाने से होकर यूरोप जाता था।

भूमि मार्ग चक्करदार और खतरनाक थे। वे असुरक्षित थे और उनसे माल ढोना कठिन और महँगा था। डाकू व्यापारियों को लूट लेते थे। सरकार उन पर बेहिसाब कर लगाती थी। दो भूभागों में उत्तरी राजमार्ग मध्य मार्ग की तरह नहीं था, चूँकि उस मार्ग से केवल ऊँट ही आते जाते थे। यह मार्ग गर्म और वीरान क्षेत्रों से गुजरता था अतः यह छोटे सामान के लिए ठीक था। पर मध्य मार्ग जैसा महत्त्व इसे कभी नहीं मिला। और वह मध्य मार्ग अथवा इंडेम्सीरियन मार्ग भी सदैव खुला नहीं रहता था। एक दो बार बन्द हुआ। पहली बार 632-651 ई. के बीच, जब सरासन अरबों ने इस्लाम के आवेग में इंडो-सीरियन मार्ग के देशों को जीत लिया। दूसरी बार से 11वीं शताब्दी में ईसाइयों के धर्मयुद्ध के बाद बन्द किया गया। दक्षिणी मार्ग भी जिसका एक बड़ा भाग समुद्री मार्ग था, समान रूप से असुरक्षित था। हिन्द महासागर और इसके निकटवर्ती समुद्रों के तूफानों से पूर्वी देशों के मजबूत जलपोत नष्ट हो जाते थे। समुद्री डाकू भी जलपोतों को नष्ट करने में पीछे नहीं थे। इसके अलावा अन्तर्देशीय बाजारों की अपेक्षा पत्तनों पर आर्थिक शुल्क की अदायगी करनी पड़ती थी। किंन्तु जैसा कि चेनस ने कहा है, "इन सभी बाधाओं के बावजूद पूर्वी देशों का काफी माल भूमध्य देशों में पहुँचता था और यूरोपीय व्यापारियों को उपलब्ध था।"

जब ये भूमि मार्ग थे तो समुद्री मार्ग की आवश्यकता क्यों पड़ी? इसका उत्तर है कि आगे एशिया में तुर्की व मंगोल उथल-पुथल हुई, जिसने अरब संस्कृति को समाप्त कर दिया और यूरोप के साथ व्यापार को नष्ट कर दिया। यह उथल-पुथल एक नयी शक्ति थी। यह उथल-पुथल पहली बार 1038 में हुई अब हठधर्मी तुर्क पर्शिया पर टूट पड़े। दो शताब्दी बाद मंगोल चंगेजखाँ के नेतृत्व में एशिया में फैल गये। 1258 ई. में मंगोलों ने बगदाद जीता। 1403 में तैमूर ने सीरिया जीता। 1453 ई. में कुस्तुनतुनिया, तुर्कों के अधिकार में आ गया। मंगोलों और तुर्कों की इस उथल-पुथल से दोनों भूमार्ग पूरी तरह बन्द हो गये। दक्षिणी मार्ग ही कुछ समय के लिए खुला रहा। जब तुर्कों ने 1516 में मिस्र को जीत लिया, तो यह मार्ग भी बन्द हो गया।

यूरोप के राष्ट्रों को भारत में लाने के लिए दो तथ्य जिम्मेवार हैं। पहला मसाले और दूसरा पुराने थल व्यापार मार्गों का तुर्कों और मंगोलों द्वारा बन्द किया जाना। इन्हीं कारणों से यूरोप के राष्ट्रों को भारत के लिए समुद्री मार्ग खोजने पड़े थे, जो अन्ततः उन्हें मिल गये।

यूरोपीय लोग, ईस्ट इंडीज में व्यापार करने के लिए आये थे, लेकिन उन्होंने इसे जीतने का इरादा बना लिया। इसके परिणामस्वरूप प्रभुत्व के लिए लड़ाई छिड़ गयी। एक ओर अंग्रेजों और दूसरी ओर पुर्तगालियों तथा डचों के बीच व्यापार के क्षेत्र में प्रभुत्व जमाने की

लड़ाई थी। अंग्रेजों और पुर्तगालियों के बीच भारत और फारस की खाड़ी में लड़ाई हुई। यह ब्रिटिशों के पक्ष में रही, और 1612 में भारत और 1622 में फारस की खाड़ी इंग्लैंड के लिए खुल गई और उसके बाद पुर्तगाली अंग्रेजों के व्यापार और वाणिज्य के विकास के लिए खतरा नहीं रहे। अंग्रेजों और डचों के बीच लड़ाई मलाय द्वीप समूह में हुई। यह अंग्रेजों के प्रतिकूल रही और 1823 में समाप्त हुई। यह अम्बियाना के नरसंहार के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें अंग्रेजों को भारत लौटना पड़ा। और मलाया द्वीप समूह से व्यापार करने का एकाधिकार डचों को दे दिया गया। अंग्रेजों और फ्राँसीसियों के बीच जमकर लड़ाई हुई। यह लड़ाई भारत में ही हुई। यह लड़ाई राजनैतिक नहीं थी, बल्कि वाणिज्यिक प्रभुसत्ता की लड़ाई थी। फ्राँसीसी दक्षिण और पूर्व में जम गये थे। जहाँ तक दक्षिण भारत का सम्बन्ध है लड़ाई 1744 में आरम्भ हुई और 1760 में बन्दीवास में समाप्त हुई जहाँ फ्रांसीसी पूरी तरह पराजित हुए। जहाँ तक पूर्वी भारत का सम्बन्ध है 1757 में एक बार ही प्लासी में लड़ाई हुई, जिसमें फ्राँसीसी उस नवाब के साथ हार गये जिसकी उन्होंने अंग्रेजों के विरुद्ध सहायता की थी। फ्राँसीसियों का सफाया होने से भारत पर शासन करने के लिए अंग्रेज ही रह गये।

लेकिन भारत की जीत पर भारत के लोगों को कैसा लगा?

* * * * *

एक दृष्टि से अंग्रेजों द्वारा भारत की जीत एक दुर्घटना थी। एक दुर्घटना के कारण ही इसे नियति समझा जाने लगा है। इस अर्थ में लार्ड कर्जन ने जो कुछ कहा है वह सही है। (पांडुलिपि में उद्धरण उपलब्ध नहीं है –संपादक)

अंग्रेजों ने भारत के लोगों के लिए क्या किया है? यह एक बड़ा प्रश्न है। इस पर कई बड़े ग्रंथ लिखे जा सकते हैं। मेरे लिए उसमें कुछ जोड़ना अनावश्यक है। मैं तो प्रश्न को छोटे दायरे में ला रहा हूँ और पूछता हूँ कि अंग्रेजों ने अछूतों के लिए क्या किया है? अंग्रेज जब शासक बन गये तो उन्होंने अछूतों के उत्थान और उद्धार के लिए क्या किया? ऐसे बहुत से शीर्षक हैं जिनके बारे में यह प्रश्न पूछा जा सकता है। लेकिन मैं अपना प्रश्न लोक सेवा, शिक्षा तथा सामाजिक सुधारों तक सीमित रखूँगा।

दो

अंग्रेज सरकार ने अछूतों के लिए देश की लोक सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व सुनिश्चित करने के लिए क्या किया? मैं पहले फौज का उदाहरण प्रस्तुत करूँगा। अछूतों के साथ क्या हुआ, यह समझने के लिए यह पूछना आवश्यक है कि अंग्रेज भारत को जीतने में सफल कैसे हुए थे? भारत की जीत एक असाधारण घटना है और इसके दो कारण हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अंत में जो देश अचानक अंग्रेजों के लिए खुल गये वे देश तीन श्रेणियों के थे। वास्कोडिगामा ने वे देश खोले, जिनमें अधिकांश क्षेत्र अधिक आबादी वाले थे और जिन पर पुराने राजा राज करते थे और जो व्यापक तथा संगठित राज्य थे। दूसरी श्रेणी के देशों की खोज कोलम्बस ने की, जिनमें जनसंख्या कम थी और राज्य मौलिक चरित्र का था। तीसरे क्षेणी के देशों की खोज भी ..... (किसी ने) की, जिनमें क्षेत्र खाली थे और कोई आबादी नहीं थी। भारत तीनों श्रेणी में से पहले में आता है।

भारत की जीत को असाधारण घटना होने का दूसरा कारण वह अवधि है, जिसमें जीत हुई। भारत कब जीता गया? भारत 1757–1818 के बीच जीत गया।

1757 में एक लड़ाई ईस्ट इंडिया कम्पनी और बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला की फौजों के बीच लड़ी गयी। इसमें अंग्रेजों की फौजें जीतीं। इतिहास में इसे प्लासी की लड़ाई कहते हैं। इस लड़ाई का ही परिणाम है कि अंग्रेजों ने प्रथम बार भारत में कोई क्षेत्र जीता। अन्तिम लड़ाई जिसमें क्षेत्रीय जीत पूरी हुई, वह 1818 में लड़ी गयी। इसे कोरेगाँव की लड़ाई कहा जाता है। यह वह लड़ाई थी, जिसमें मराठा साम्राज्य नष्ट हुआ और उसके स्थान पर अंग्रेजी साम्राज्य भारत में जम गया। इस प्रकार अंग्रेजों ने भारत को 1757–1818 के बीच जीता। इस बीच यूरोप में क्या स्थिति थी और अंग्रेजों की क्या दशा थी? यह समय यूरोप में खलबली का समय था। वह नेपोलियन की लड़ाइयों का समय था, जिसकी अन्तिम लड़ाई 1815 में वाटरलू में लड़ी गयी थी। इन लड़ाइयों में इंग्लैंड एक मूक दर्शक नहीं रहा। इन लड़ाइयों में इंग्लैंड ने भी सक्रिय भाग लिया। वह उन सभी यूरोपीय राज्यों का अग्रणी था, जिन्होंने नेपोलियन तथा फ्राँस की नीति को कुचलने के लिए गठबन्धन बनाये। इस भयंकर युद्ध में अंग्रेजी राष्ट्र ने अपने बचाव के लिए सब कुछ धन–दौलत, जनशक्ति, जहाज, तोपें आदि दाँव पर लगा दिये। ईस्ट इंडिया कम्पनी को वे कुछ भी नहीं दे सके। सिर्फ यही नहीं कि उन्होंने ईस्ट इंडिया कम्पनी की सहायता के लिए उन्हें कुछ नहीं दिया, अपितु वास्तव में इन्होंने यूरोप की लड़ाई में नेपोलियन का सामना करने के लिए ईस्ट इंडिया कम्पनी से आर्थिक और सैनिक सहायता के अलावा जहाज आदि भी उधार लिये। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अंग्रेजी साम्राज्य की यूरोप की लड़ाई में कितनी सहायता की, इसका मैकफरसन के निम्नलिखित विवरण से पता चलता है– जब अंग्रेज नेपोलियन के साथ यूरोप की घातक लड़ाइयों में पूर्णतः व्यस्त थे और ईस्ट इंडिया कम्पनी की भारत को जीतने में किसी प्रकार की सहायता नहीं कर सकते थे, उसी समय ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत को जीता। यही कारण है कि भारत की जीत एक असाधारण घटना है। यह असाधारण घटना कैसे संभव हुई। इसका क्या स्पष्टीकरण है? इस बारे में मैकाले ने अपना स्पष्टीकरण दिया है। मैकाले के स्पष्टीकरण पर सभी अंग्रेज विश्वास करते हैं। (स्पष्टीकरण का उद्धरण पांडुलिपि में उपलब्ध नहीं है।)

काफी समय तक प्रचलित रहने के कारण इसने अंग्रेजों, यूरोपीयों और अमरीकी लोगों के मन पर एक छाप छोड़ी है। निस्सन्देह अंग्रेजों की युवा पीढ़ी के मन में भी यही विचार भरने का प्रयास किया जाता है। यह स्वाभाविक भी है। अपने आप को श्रेष्ठ समझना राजसी वंश का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है और मैकाले ने जो कुछ कहा है वह इसके अनुकूल ही है।

लेकिन क्या मैकाले का विचार सही है? क्या इतिहास के तथ्य इसकी पुष्टि करते हैं? प्रोफेसर सीले, जिन्होंने इस विषय का मैकाले से अधिक यथार्थ तरीके से अध्ययन किया है, कहा था, "कम्पनी की आरम्भिक लड़ाइयों में जिनके द्वारा कम्पनी की सत्ता सुदृढ़ रूप से स्थापित हो गयी थी, प्लासी में, बक्सर में तथा आरकोट की जीत में अधि कतर सदैव यह देखा गया कि कम्पनी की ओर से लड़ने वाले लोगों में यूरोपीयों की अपेक्षा भारतीय सिपाही अधिक थे। इसके अलावा हमें यह भी सुनने में नहीं आया कि भारतीय सिपाही ठीक ढंग से नहीं लड़े या दबाव केवल अंग्रेजों पर पड़ा हो। किसी ने कहा है कि इतिहासकार बच्चों की तरह उत्सुक्ता से अपने राष्ट्र का गुणगान करते हैं। ऐसा व्यक्ति भी यह जानकर हैरान नहीं होगा कि इन लड़ाइयों का वर्णन करते समय अंग्रेज लेखक भी हमारे सिपाहियों की पहचान नहीं कर पाए। मैकाले ने क्लाइव पर अपने निबन्ध में कहा है, "हर स्थान पर अंग्रेज, समुद्र के शक्तिशाली बच्चे जैसे दिखाई देते हैं।" इसीलिए कोई भी क्लाइव और उसके अंग्रेज सैनिकों का मुकाबला नहीं कर सका। लेकिन यदि एक बार मान लिया जाए कि भारतीय सिपाहियों की संख्या अंग्रेजों से सदैव अधिक होती थी और वे अंग्रेजों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलते थे और अच्छे सिपाही थे तो हमारा यह सिद्धान्त निर्मूल हो जाता है कि उन्हें सफलता इसलिए मिली की बहादुरी में वे स्वाभाविक रूप से दूसरे से आगे थे। उन लड़ाइयों में जिनमें हमारे सैनिकों की संख्या और दुश्मनों के सैनिकों की संख्या में 1/10 अनुपात था तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि एक अंग्रेज 10 मूल निवासियों के बराबर था। हम एक सिपाही के बारे में भी यही कह सकते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यद्यपि अन्तर था तो वह अन्तर वंश अलग होने के कारण नहीं था, बल्कि अनुशासन और सैनिक विज्ञान में अन्तर होने के कारण था। निस्सन्देह अनेक मामलों में नेतृत्व में अन्तर होने के कारण था।"

भारत की जीत के बारे में मिल के संक्षिप्त स्पष्टीकरण से पता चलता है कि अंग्रेज प्राकृतिक दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं थे। भारत की जीत के बारे में दो महत्त्वपूर्ण तथ्यों का पता लगा है। एक तो यह कि देशी सेनाएँ अनुशासन के मामले में यूरोपीय सेनाओं से कमजोर थीं। दूसरा यह कि यूरोपीय सेना में देशी लोगों को अनुशासित करने की सुविधा उपलब्ध थी। उन्होंने आगे कहा है– "ये दोनों खोजें फ्राँसीसियों ने कीं।"

यदि हम यह मान भी लें कि अंग्रेज भारतीय सिपाहियों की तुलना में अच्छे लड़े और जो कुछ प्राप्त हुआ उसमें अपने भाग से अधिक पाया जबकि दोनों ने मिलकर कार्य किया, यह कहना सर्वथा गलत होगा कि अंग्रेजों ने भारत के राज्यों को जीता।

भारत के राज्य उस सेना के द्वारा जीते गये जिसका लगभग पाँचवा भाग अंग्रेज थे। लेकिन हम इस उपलब्धि का अधिक श्रेय ही नहीं लेते, अपितु इस उपलब्धि के बारे हमारी धारणा ही गलत है। शेष 80 प्रतिशत सैनिक किस जाति के थे? वे तो भारत के देशज ही थे। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि भारत विदेशियों द्वारा जीता गया, उसने स्वयं को स्वयं जीता है।[1]

यहाँ तक तो प्रो. सीली का यह स्पष्टीकरण सही है। लेकिन यह बहुत दूर तुम नहीं जाता। भारत को भारतवासियों से बनी सेना की सहायता से ही अंग्रेजों ने जीता था। भारतीयों और अंग्रेजों को यह तथ्य नहीं भूलना चाहिए। लेकिन ये कौन से भारतीय थे जो विदेशियों की फौज में भर्ती हुए। यह प्रश्न प्रो. सीली ने नहीं उठाया, किन्तु यह बहुत ही प्रासंगिक प्रश्न है। वे कौन से लोग थे जो ईस्ट इंडिया कम्पनी की फौज में भर्ती हुए और भारत जीतने में अंग्रेजों की मदद की। मैं तो उत्तर दे सकता हूँ और जो काफी अध्ययन पर आधारित है, वह यह है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की फौज में भारत के अछूत भर्ती हुए। प्लासी की लड़ाई में जो लोग क्लाइव की ओर से लड़े, वे दुशाध थे और दुशाध अछूत थे। वे लोग जो कोरेगाँव में लड़े, वे महार थे और महार भी अछूत हैं। इस प्रकार पहली लड़ाई और अन्तिम लड़ाई में अंग्रेजों के पक्ष में जो लोग लड़े और भारत जीतने में उनकी सहायता की, वे अछूत थे। यह सत्य मारक्वेस ट्वीडल ने पील आयोग को जिसका गठन 1859 के लिए किया गया था भेजे गये अपने नोट में स्वीकार किया है। उन्होंने यह कहा है– *(उद्धरण पांडुलिपि में नहीं दिया गया है –संपादक)* बहुत से ऐसे लोग हैं, जो अछूतों के अंग्रेजी फौजों में भर्ती होने के आचरण को विश्वासघात मानते हैं। जो भी हो। अछूतों का यह आचरण स्वाभाविक ही था। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जो यह दिखाते हैं कि कैसे एक देश में एक वर्ग के लोगों ने हमलावर के प्रति इस आशा से सहानुभूति दिखाई कि नया आने वाला उन्हें अपने देशवासियों के अत्याचारों से बचाएगा। जो अछूतों पर आरोप लगाते हैं उन्हें इंग्लिश लेबरिंग क्लासेस 17 में, अंग्रेजी मजदूर वर्गों द्वारा जारी किया गया निम्नलिखित घोषित पत्र पढ़ना चाहिए। *(अधूरा छोड़ दिया गया है : सारांश भी पांडुलिपि में नहीं है –संपादक)*

* * * * *

क्या अछूतों का यह व्यवहार किसी प्रकार अनूठा था? आखिरकार अंग्रेज मजदूरों पर जितने जुल्म होते थे अछूतों पर उनकी तुलना में बहुत अधिक जुल्म होते थे और यदि अंग्रेजी मजदूरों के पास विदेशी हमलावर का स्वागत करने का एक कारण था तो अछूतों के पास सौ कारण थे। *(पांडुलिपि में खाली स्थान छोड़ दिया गया है –संपादक)*

अछूतों ने अंग्रेजों को भारत जीतने में ही सहायता नहीं की, अपितु इसे अपने पास रखने में भी सहायता की। 1857 का विद्रोह अंग्रेजों के राज्य को उखाड़ फेंकने की

---

1. सीली, एक्सपेंशन ऑफ इंग्लैंड, पृष्ठ 200–202

कोशिश थी। यह अंग्रेजों को निकालने और भारत को वापस लेने की एक कोशिश थी जहाँ तक फौज का सम्बन्ध है, विद्रोह का संचालन बंगाल सेना[1] कर रही थी। बम्बई और मद्रास की फौजें निष्ठावान बनी रहीं। यह उनकी मदद के कारण ही था कि विद्रोह को दबाया जा सका। बम्बई और मद्रास की सेनाओं में कौन लोग थे? इनमें अधिकतर अछूत थे। बम्बई में महार और मद्रास में परिवाह थे। अतः यह कहना सच है कि अछूतों ने केवल जीतने में ही अंग्रेजों की सहायता नहीं की, अपितु भारत को अपने अधिकार में लेने में भी सहायता की।

जहाँ तक फौज में नौकरी का सम्बन्ध है, अंग्रेजों ने अछूतों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया? बड़ा विचित्र तो लगेगा, लेकिन उत्तर यह है कि अंग्रेज सरकार ने लगभग 1890 से अछूतों के अंग्रेजी फौज में भर्ती पर रोक लगा दी। परिणाम यह हुआ कि जिनकी भर्ती पहले हो चुकी थी वे सेना में रहे। यह बहुत बड़ी दया है कि उनको निकाला नहीं गया, लेकिन समय के साथ वे मर गये या पेंशन पर चले गये और आखिरकार 1910 तक फौज से पूर्णतः समाप्त हो गये। अछूतों को फौज से इस तरह निकालने से अधिक अपमानजनक कुछ भी नहीं हो सकता।

अंग्रेजों ने ऐसा काम क्यों किया जो विश्वासघात व अनिष्ठा का प्रतीक है? अंग्रेजी फौज में अछूतों की भर्ती पर लगे इस प्रतिबन्ध का कोई उत्तर अंग्रेजों ने कभी नहीं दिया है। प्रायः यह सुना जाता है कि अछूतों की भर्ती पर यह प्रतिबन्ध जानबूझ कर नहीं लगाया गया था। अपितु यह उस नीति का परिणाम है जो वर्ष 1890 के करीब सेना की कार्यकुशलता में सुधार लाने के उद्देश्य से की गयी।

लेकिन क्या यह सही है? यह नीति दो सिद्धान्तों पर आधारित है। एक संगठन और दूसरा भर्ती सम्बन्धी। संगठन का सिद्धान्त, जो 1890 से लागू किया गया था वर्ग-संयोजन नाम से जाना जाता है, जबकि पहले मिश्रित रेजीमेंट का सिद्धान्त लागू था। नये सिद्धान्त के अनुसार भारतीय फौज का संगठन वर्ग रेजीमेंट या वर्ग स्क्वाड्रन या कम्पनी पद्धति पर आधारित बनाया गया। इसका अर्थ यह है कि पहले मामले में, सम्पूर्ण रेजीमेंट में एक वर्ग या एक जाति के लोग हैं दूसरे मामले में प्रत्येक स्क्वाड्रन या कम्पनी में पूर्णतः एक वर्ग या जाति के लोग हैं। भर्ती के पुराने सिद्धान्त के अनुसार उपलब्ध लोगों में से सर्वोत्तम लोगों की भर्ती की जाती थी, उसकी जाति या धर्म चाहे जो भी हो। नये सिद्धान्त के अधीन लोगों के स्वभाव और बुद्धि की अपेक्षा इसकी जाति की ओर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। भर्ती के प्रयोजनार्थ भारत की विभिन्न जातियों एवं सम्प्रदायों को लड़ाकू और

1. बंगाल सेना इसलिए कहलाती थी, क्योंकि यह बंगाल की सरकार के अधीन थी। इसलिए नहीं कि इसमें बंगाली थे। इसमें कोई भी बंगाली नहीं, बल्कि यह उत्तरी भारत के लोगों से बनी थी।

गैर–लड़ाकू जातियों में बाँटा जाता है। गैर–लड़ाकू जातियों को फौज में भर्ती नहीं किया जाता है। केवल लड़ाकू जातियों की श्रेणी में आने वाली जातियों और सम्प्रदायों के लोगों को सेना में भर्ती किया जाता है।

इन दो सिद्धान्तों को स्वीकार करना कठिन है। वर्ग रचना का सिद्धान्त कुछ हद तक राजनैतिक कारणों से लागू किया गया था, क्योंकि इसका उद्देश्य अंग्रेजों के खिलाफ कोई ठोस संघ जैसा कि विद्रोह में हुआ, न बनने देना था। मुझे यह मान लेना चाहिए था कि मिश्रित रेजिमेंट की पद्धति अधिक सुरक्षित है।[1] किन्तु यह मान लिया जाये क यह सिद्धान्त उत्तम है तो फिर यह अछूतों की भर्ती में आड़े क्यों आया? यदि वर्ग रचना पद्धति के अन्तर्गत सिखों, डोगरों, गोरखों, राजपूतों आदि की रेजीमेंट हो सकती है, तो अछूतों की रेजीमेंट क्यों नहीं हो सकती? इसी प्रकार यदि यह मान लिया जाये कि केवल लड़ाकू जातियों के लोगों की भर्ती करने का सिद्धान्त ही सही है, तो इसका अछूतों पर प्रतिकूल प्रभाव क्यों पड़ा? क्या उनको लड़ाकू जाति नहीं समझा जाता? इसके अलावा उन्हें अछूत कहने में क्या औचित्य है, जो गैर–लड़ाकू होते हुए भी 150 वर्षों से अधिक समय तक भारतीय सेना का मुख्य आधार बने रहे। ब्रिटेन की सरकार अछूतों को गैर–लड़ाकू जाति के लोग नहीं मानती, यह बात इस तथ्य से सिद्ध हो जाती है कि महायुद्ध में जब फौज के लिए अधिक आदमियों की आवश्यकता थी तो सेना से अछूतों की भर्ती पर लगी यह पाबन्दी हटा ली गयी थी और एक पूरी बटालियन खड़ी की गयी थी जिसे 'महार' नाम से जाना जाता था। इसकी कार्य क्षमता ने इसे प्रमाणित किया है। जब इस बटालियन की आवश्यकता नहीं रही और अछूतों के नाराज तथा क्षुब्ध होने पर भी, इसे खत्म कर दिया गया, तो सर (नाम नहीं दिया है) ने कहा– (*पांडुलिपि में उद्धरण नहीं है*)

इस प्रमाण के उपलब्ध होने पर कौन कह सकता है कि अछूत गैर–लड़ाकू जाति के हैं? अतः यह स्पष्ट है कि उक्त दो कारणों से अछूतों को सेना से बहिष्कृत नहीं किया गया। तो फिर सही कारण क्या है? मेरे विचार से अछूतों को फौज से बहिष्कृत करने का सही कारण उनका अछूत होना है। फौज में अछूतों का तब तक तो स्वागत किया गया, जब तक कि फौज में उनकी भर्ती से कोई विवाद पैदा नहीं हुआ। ब्रिटिश इतिहास के आरम्भिक चरण में ऐसी कोई समस्या नहीं थी, क्योंकि सवर्ण अंग्रेजी फौजों से बाहर रहे। जब, भारतीय विद्रोह के पश्चात्, देशी राजा प्रभावहीन हो गये तो हिंदू अंग्रेजी फौज में भर्ती होने लगे, जो पहले से ही अछूतों से भरी थी। तब एक समस्या उत्पन्न हुई। दोनों समुदायों के बीच सामंजस्य स्थापित करने अर्थात सवर्णों और अछूतों को उचित स्थान दिलाने की समस्या पैदा हुई। अंग्रेजों ने, जो सदैव न्याय और सुविधा के बीच टकराव की स्थिति में

---

1. देखिए– जनरल विलकाक्स की 'विद इंडियन्स इन फ्राँस' में दी गई राय। पांडुलिपि में पृष्ठ नहीं दिया गया है।

सुविधा को ही तरजीह देते हैं, अछूतों को सेना से बहिष्कृत करके समस्या का समाधान कर दिया। उन्होंने इस बात का ध्यान नहीं रखा कि वे उनके प्रति कृतज्ञ हैं।

इस बहिष्कार के जो भी कारण रहे हों, बहिष्कार का प्रभाव भी औचित्यपूर्ण हो, तथ्य यह है कि इस बहिष्कार का प्रभाव अछूतों के सामाजिक जीवन के लिए बहुत घातक रहा। सैनिक सेवा ही ऐसी सेवा थी जिसमें अछूत अपनी आजीविका कमा सकते थे और अपना भविष्य बना सकते थे। इतिहास इस बात का साक्षी है कि बहुत से अछूतों ने सेना में सराहनीय सेवा की और सैकड़ों अछूत जमादार सूबेदार और सूबेदार मेजर के पदों तक पहुँचे। सेना में होने से हिन्दू उनको आदर देने लगे और सत्ता, प्रतिष्ठा तथा प्रभाव के पदों पर होने से वे अपने आपको प्रभावशाली समझने लगे। फौज में 150 वर्ष तक काम करने के पश्चात अछूत इसे अपना पारम्परिक पेशा समझने लगे थे और उन्होंने किसी अन्य पेशे के योग्य बनने की चिन्ता नहीं की थी। पर 1890 में इनसे कहा गया कि उनकी आवश्यकता फौज में नहीं है। पर उन्हें नये हालात के अनुरूप अपने आप को ढालने का अवसर नहीं दिया गया, जैसा कि 1935 में एंग्लो–भारतीयों के मामले में किया था। जब यह सेवा बन्द हो गयी तो अछूतों को जबर्दस्त धक्का लगा और इस धक्के से वे अभी तक नहीं उभर पाए हैं। इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं कि पहाड़ की चोटी से नीचे फेंक दिये गये और देशी सरकार के समय जिस तरह स्तर पर थे उससे भी नीचे गिरे।

अछूतों की सैनिक सेवा में भर्ती के बारे में इतना ही कहना है। पर असैनिक सेवा (या सिविल सेवा) में उनकी भर्ती के सम्बन्ध में क्या स्थिति है?

सिविल सेवा भर्ती के लिए आवश्यक है कि प्रार्थी काफी शिक्षित हो। केवल विश्वविद्यालय की डिग्री वाले लोग ही उसमें भर्ती हो सकते थे। अछूत भारत की जनता में सबसे कम पढ़े लिखे लोग रहे हैं। सिविल सेवा वास्तव में उनके लिए बन्द कर दी गयी थी। यह अभी हाल ही में उनमें से कुछ लोगों ने विश्वविद्यालय की डिग्री प्राप्त कर ली है, उनकी तकदीर कैसी रही? यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि वे दर–दर भीख माँग रहे हैं। सिविल सेवाओं में प्रवेश पाने में उनके सामने दो कठिनाइयाँ आयी हैं। पहली यह कि अंग्रेज सरकार ने उन्हें कोई वरीयता देने से इंकार कर दिया, यही नहीं अंग्रेज सरकार न उन सम्प्रदायों को जिनका सिविल सेवाओं में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं था, वरीयता देने का सिद्धान्त स्वीकार नहीं किया। उदाहरण के तौर पर अंग्रेज सरकार ने यह अवश्य माना है कि मुसलमानों को वरीयता दी जानी चाहिए यदि उनके पास न्यूनतम योग्यता है। उनके मामले में इस सिद्धान्त पर अमल किया गया है यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि भारत सरकार को नामांकन के आधार पर आई.सी.एस. के कतिपय पदों को भरने की जब से शक्ति मिली है, तब से सरकार ने आई.सी.एस. के पदों पर मुसलमानों को मनोनीत किया है। अंग्रेज सरकार ने एक भी उम्मीदवार अछूतों में से मनोनीत नहीं किया

यद्यपि ऐसे बहुत से अछूत थे जो न्यूनतम योग्यता की कसौटी को पूरा करते थे।

दूसरा कारण, जिसकी वजह से अछूत शिक्षा की दृष्टि से योग्य होने पर भी सिविल सेवाओं में स्थान नहीं पा सके यह है कि इन सेवाओं के लिए चुनाव की पद्धति है। अंग्रेजों के राज्य में खाली पदों को भरने का अधिकार विभागाध्यक्ष को होता था। विभागाध्यक्ष सवर्ण हिन्दू रहे हैं और आगे भी रहेंगे। एक सवर्ण हिन्दू अपने स्वभाव से ही एक अछूत उम्मीदवार का कोई लिहाज नहीं रख सकता। वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसमें सहानुभूति बहुत होती है और वैर भाव भी बहुत होता है। उसकी सहानुभूति की भावना उसे पहले अपने परिवार, फिर अपने रिश्तेदार, फिर अपने मित्रों और फिर अपनी जाति के लोगों का ध्यान रखने के लिए प्रेरित करती है। इस बड़े क्षेत्र में से उसे खाली स्थान के लिए उम्मीदवार अवश्य मिल जाएगा।[1] ऐसा विरले ही होता है कि उसे अपनी जाति की सीमा के बाहर जाना पड़े। यदि वह ऐसा करता है तो अछूतों को तभी नौकरी मिलेगी, जब कोई सवर्ण हिन्दू प्रतिस्पर्धा करने के लिए नहीं होगा। यदि सवर्ण जाति का कोई भी प्रतिस्पर्धी है तो अछूत को कोई अवसर नहीं मिलेगा। इस प्रकार सिविल सेवा में भर्ती के मामले में अछूत पर हमेशा सब के बाद विचार किया जाता है। चूँकि उस पर अन्त में विचार किया जाता है, उसे अवसर मिलने की बहुत कम सम्भावना होती है।

दो ऐसी सेवाएँ हैं, जिनके लिए अछूत विशेष रूप से उपयुक्त हैं। एक है पुलिस सेवा और दूसरी सरकारी कार्यालयों में दासोचित सेवा। पुलिस सेवा के सम्बन्ध में अछूतों की स्थिति क्या है?

17 दिसम्बर, 1925 को संयुक्त प्रांत की विधान परिषद में एक प्रस्ताव रखा गया जिसमें सरकारी सेवा में विशेष रूप से पुलिस सेवा में अछूतों की भर्ती पर लगे सभी प्रतिबन्धों को हटाने का सरकार से अनुरोध किया गया। विभाग के प्रभारी ने सरकार की ओर से उत्तर देते हुए कहा, "नहीं, यदि आदरणीय सदस्य इसे सबके लिए खुला रखना चाहते हैं, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। लेकिन इस समय पुलिस बल में आपराधिक समुदाय या नीच जाति के किसी व्यक्ति जैसे चमार की भर्ती का अवश्य विरोध करूँगा।"

22 जुलाई, 1927 को लाला मोहनलाल ने पंजाब विधानसभा में निम्नलिखित प्रश्न पूछा :

लाला मोहनलाल – "क्या वित्त मन्त्री यह बताने की कृपा करेंगे कि दलित वर्गों के सदस्यों की पुलिस में भर्ती की जाती है? यदि नहीं तो क्या सरकार यह निर्देश देने का इरादा रखती है कि पुलिस कांस्टेबलों की भर्ती के मामले में दलित जातियों के लोगों को भी लिया जाएगा।"

---

1. यह वह सिद्धान्त है, जिसके अनुसार पद भरे जाते हैं और इसे सब जानते हैं। वस्तुतः यह इतना स्थापित है कि यदि किसी को विभागाध्यक्ष की जाति पता है, तो वह उस विभाग के कर्मचारी की जाति भी बता देगा।

माननीय सर जाफरी दि मोटंमोरेंसी – "दलित लोगों की पुलिस में भर्ती नहीं की जाती है। जब इस बात का सबूत मिल जाएगा कि समाज के सभी वर्गों के समान दलित वर्गों के साथ व्यवहार होता है, (जो शायद कमायत तक नहीं होगा) या सरकार का यह समाधान हो जाता है कि इन वर्गों की भर्ती से पुलिस बल की कार्यकुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा और इन लोगों की भर्ती करना सेवा के हित में होगा तो सरकार उन लोगों को इस सेवा में भर्ती की छूट दे देगी, बशर्ते कि वे इस सेवा में भर्ती के लिए अपेक्षित शारीरिक तथा अन्य मानकों को पूरा करते हों।"

इस प्रश्न पर विचार करने के लिए 1928 में सरकार द्वारा नियुक्त समिति ने निम्नलिखित रिपोर्ट दी। (उद्धरण पांडुलिपि में नहीं है)।

अतः जहाँ तक दासोचित सेवा का सम्बन्ध है यह भी उनके लिए बन्द है। बहुत कम इस पर विश्वास करेंगे यद्यपि यह सही है और बहुत कम इसके कारण जानते होंगे यद्यपि यह बिल्कुल स्पष्ट है। एक अछूत को दासोचित सेवा में उसी कारण नहीं लिया जाता है जिस कारण उसे पुलिस सेवा में नहीं लिया जाता है। यह है अस्पृश्यता। एक आदमी की गिरफ्तारी करना एक सिपाही का कर्तव्य है। उदाहरण के तौर पर तलाशी वारंट तामील करने के लिए किसी के घर में प्रवेश करना एक सिपाही की ड्यूटी है। यदि गिरफ्तार किया गया व्यक्ति हिन्दू हो और सिपाही अछूत तो क्या होगा? पुलिस के सिपाहियों को आस-पड़ोस में रहना पड़ता है और एक ही नल का इस्तेमाल करना पड़ता है। एक हिन्दू की क्या प्रतिक्रिया होगी यदि एक अछूत सिपाही पड़ोसी है? उन बातों के आधार पर पुलिस सेवा में अछूतों की भर्ती पर रोक लगा दी गयी है। दासोचित सेवा के मामले में भी यही बात लागू होती है। सरकारी कार्यालय में काम करने वाले एक नौकर को कार्यालय में नौकरी करनी होती है। लेकिन अपनी नौकरी के कारण वह दूसरों के सम्पर्क में आता है जो हिन्दू होते हैं। उसके सम्पर्क से प्रदूषण होता है। उसका स्वागत कैसे हो सकता है? इसके अतिरिक्त परम्परा के अनुसार कार्यालय में एक चपरासी से अधिकारी का दफ्तर और घर का काम करने की अपेक्षा की जाती है। उसे अपने स्वामी के लिए चाय लानी होती है, घर में मालिक की पत्नी के लिए बाजार से सामान लाना होता है और उसे बच्चों की देखभाल भी करनी होती है। दासोचित पदों पर अछूतों की नियुक्ति हो जाये तो अधिकारी को इन सेवाओं से वंचित रहना पड़ता है। इन सेवाओं से वंचित होने के बजाय अछूतों को सेवा देने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता था। इस प्रकार किसी भी अछूत की भर्ती नहीं की जाती थी। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए बम्बई समिति को इस सम्बन्ध में एक विशेष सिफारिश करनी पड़ी।

तीन

अंग्रेज सरकार ने अछूतों की शिक्षा के लिए क्या किया? मैं बम्बई प्रेसीडेंसी को एक उदाहरण के तौर पर लूँगा। जहाँ तक शिक्षा का सम्बन्ध है, अंग्रेज प्रशासन की अवधि को तीन सुविधाजनक अवधियों में बाँटा जा सकता है।

I (1813 से 1854)

1. बम्बई प्रेसीडेंसी में शिक्षा का आरम्भ 1815 में अंग्रेजी राज में बम्बई एजूकेशन सोसायटी की स्थापना से हुआ। इस सोसायटी ने अपना कार्य यूरोपीयन बच्चों की शिक्षा तक सीमित नहीं रखा। देशी बच्चों को सूरत और थाणे में स्कूल में जाने के लिए उत्साहित किया गया और 1820 के आरम्भ में देशी बच्चों के लिए बम्बई में चार अलग स्कूल खोले गये जिनमें लगभग 250 बच्चे जाते थे। उसी वर्ष अगस्त में मूल निवासियों की शिक्षा के लिए और भी उपाय किये गये। सोसायटी ने देशी भाषा में स्कूली पुस्तकें तैयार करने और देशी विद्यालय स्थापित करने या स्थापित करने में मदद करने के लिए एक विशेष समिति का गठन किया। लेकिन शीघ्र ही देखा गया कि इतना व्यापक क्षेत्राधिकारी, मुख्य रूप से गरीबों की शिक्षा के लिए नियुक्त सोसायटी के उद्देश्यों के बाहर है और 1822 में समिति एक पृथक निगम बन गयी जिसका नाम था – "बॉम्बे नेटिव स्कूल बुक एंड स्कूल सोसायटी" जिसे 1827 में बदल कर बॉम्बे नेटिव एजूकेशन सोसायटी कर दिया गया। माननीय माउंट स्टूअर्ट एलफिंस्टन इस नयी सोसायटी के प्रथम अध्यक्ष थे। उपाध्यक्ष थे मुख्य न्यायाधीश और बम्बई सरकार की कार्यकारिणी परिषद के तीन सदस्य। प्रबन्ध समिति में 12 यूरोपीय थे और 12 देशी लोग थे। कप्तान जार्ज जरविश आर.ई. तथा श्री सदाशिव काशीनाथ छत्रे उसके सचिव थे। सोसायटी ने सरकार से 600 रुपये प्रतिमाह के अनुदान से कार्य आरम्भ किया। 1825 में बम्बई सरकार ने अपने खर्चे पर जिला कस्बों में अपने प्राथमिक विद्यालय स्थापित करना आरम्भ कर दिया, जिनका नियन्त्रण जिलाधीश के अधीन था। इन दो स्वतन्त्र संस्थाओं के कार्यों में तालमेल बिठाने के लिए 1840 में एक बोर्ड ऑफ एजूकेशन बनाया गया, जिसमें 6 सदस्य थे। उनमें से तीन सरकार द्वारा नियुक्त किये गये और तीन नेटिव एजूकेशन सोसायटी द्वारा नियुक्त किये गये। बोर्ड, 1855 में डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन की नियुक्ति तक उस विभाग का इंचार्ज रहा।

2. पहली मार्च 1855 को जब बोर्ड समाप्त कर दिया गया, तब बम्बई प्रेसीडेंसी में बोर्ड के चार्ज में 15 अंग्रेजी कॉलेज तथा विद्यालय थे, जिनमें 2850 छात्र नामांकित थे और 256 देशी स्कूल थे, जिनमें 18883 छात्र नामांकित थे। उसी रिपोर्ट में बोर्ड ने कहा है–

"24 अगस्त, 1855 में हमें अहमद नगर के नागरिकों से एक पत्र नीच जातियों की शिक्षा के लिए एक स्कूल स्थापित करने और उसके अध्यापकों को आधा वेतन देने का अनुरोध किया गया था। नवीनतम नियम के अनुसार आवेदन कर्ताओं द्वारा एक कमरा बनवाया गया था और छात्रों की संख्या 30 थी। ऐसे स्कूल का स्थापना का विरोध पूँजीपतियों व उच्च जाति द्वारा किया गया था और कम वेतन पर अध्यापक ढूँढ़ना भी कठिन था, किन्तु आवेदन नवीनतम नियमों के अनुकूल होने के कारण, हमने अनुरोध तुरन्त स्वीकार कर लिया और स्कूल नवम्बर में खुल गया। हम इस विषय का उल्लेख इसलिए करते हैं कि यह पहला अवसर था कि हमने इन जातियों के लिए स्कूल खोला।"

3. बोर्ड के इस बयान से कि यह पहला अवसर था कि नीच जातियों के लिए बम्बई प्रेसीडेंसी में एक स्कूल की स्थापना हुई, यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 1855 से पूर्व दलितों की शिक्षा के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार की क्या नीति थी? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए यह आवश्यक है कि 1813–1855 के बीच, बम्बई प्रेसीडेंसी में अंग्रेजी सरकार की शिक्षा नीति का गहराई से अध्ययन किया जाए। यह स्वीकार करना होगा कि पेशवा के शासनकाल में अछूत वर्गों को शिक्षा नहीं दी जाती थी। उनको शिक्षा के क्षेत्र में कोई स्थान नहीं मिला। इसका कारण यह था कि पेशवा की सरकार मनु के सिद्धान्तों पर आधारित एक धर्मतन्त्र थी, जिसके अनुसार शूद्रों व अतिशूद्रों को जीवन, स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त होते हुए भी शिक्षा का कोई निश्चित अधिकार प्राप्त नहीं था। अछूत वर्गों ने जो इन अयोग्यताओं में पिस रहे थे, उस घृणित धर्मतन्त्र के पतन पर स्वाभाविक रूप से राहत की साँस ली। अंग्रेजी शासन आने से दलित वर्गों में आशा की एक किरण का उदय हुआ था। इसका पहला कारण तो यह था कि यह एक लोकतन्त्र था जिसमें कि उनके अनुसार सभी लोगों को समान अधिकार प्राप्त होते हैं। यदि इसके सिद्धान्तों का पालन किया गया, तो इस प्रकार का प्रजातन्त्र पेशवा के धर्मतन्त्र के पूर्णतः प्रतिकूल होगा। दूसरे, दलितों ने अंग्रेजों को देश जीतने में सहायता की थी और स्वभावतः उनका विश्वास था कि अंग्रेज भी अपनी बारी में उनकी सहायता करेंगे।

4. अंग्रेज बहुत दिनों तक तो देशवासियों में शिक्षा के प्रसार के मामले में चुपचाप रहे। यद्यपि भारत के प्रशासन में उच्च अधिकारी भारत के लोगों के बीच शिक्षा के मामले में अपने नैतिक कर्तव्यों और प्रशासनिक आवश्यकता को भूले नहीं थे। 1813 तक इस सम्बन्ध में राज्य की जिम्मेवारी के बारे में सार्वजनिक रूप से कोई घोषणा नहीं की गयी। जब संविधान की धारा 43 द्वारा संसद ने नियम बनाया कि "भारत की मालगुजारी की बचत का कम-से-कम एक लाख रुपया प्रति वर्ष अलग रख दिया जाये और इसे साहित्य के पुनरुत्थान और भारत के पढ़े-लिखे लोगों को उत्साहित करने तथा भारत में अंग्रेजी राज्यक्षेत्रों के निवासियों में विज्ञान की शिक्षा आरम्भ करने तथा उसे बढ़ावा देने पर खर्च किया जाये।" तथापि इस कानूनी व्यवस्था के बावजूद भारत के मूल निवासियों की शिक्षा को ठोस व संगठित आधार प्रदान करने के लिए 1823 तक कोई नियमित प्रयास नहीं किये गये। 1813 के कानून की धारा 43 को प्रभावी करने की नीति निर्धारित करने के सम्बन्ध में बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स ने अपने 3 जून, 1814 के डिस्पैच में गवर्नर जनरल इन काउंसिल को निर्देश दिया कि हिन्दुओं को संस्कृत पढ़ाने से वे उद्देश्य पूरे हो जाएँगे जो संसद के दिमाग में थे। लेकिन दलित वर्गों को कितनी निराशा हुई जब मूल निवासियों की शिक्षा को ठोस और संगठित आधार प्रदान करने के लिए नियमित प्रयास किये गये और अंग्रेजी सरकार ने जानबूझ कर निर्णय दिया कि शिक्षा

उच्च जातियों के लिए सुरक्षित है। इस तथ्य को कपोल-कथा नहीं माना जाये इसलिए बम्बई प्रेसीडेंसी के बोर्ड ऑफ एजुकेशन की वर्ष 1850-51 की रिपोर्ट के निम्नलिखित उद्धरणों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है–

"पाँचवा पैराग्राफ : बोर्ड द्वारा अपनाई गयी पद्धति कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के विचारों पर आधारित थी। इस प्रकार इस प्रेसीडेंसी के शिक्षा बोर्ड द्वारा माननीय कोर्ट के मुख्य आदेशों के अनुसार शिक्षा पद्धति निर्धारित कर दिये जाने और आर्ल ऑफ आकलैंड, मेजर कैंडी तथा अन्य, जैसे भारत में शिक्षा की प्रगति पर सावधानी से विचार करने वाले लोगों के मत और विवेकशील मूल निवासियों की खुले आम घोषित माँगों के आधार पर शिक्षा आरम्भ हो जाने पर कौंसिल में पूर्ववर्ती लार्डशिप ने बोर्ड को सूचित किया कि यह प्रक्रिया उलट दी जाय।"

"चौदहवाँ पैराग्राफ : निष्कर्ष कि आम जनता को शिक्षित करने के लिए साधन उपलब्ध नहीं हैं। इन तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि यदि 175 देशी विद्यालयों को सुव्यवस्थित करने और 10730 छात्रों को आरम्भिक शिक्षा देने के लिए पर्याप्त धनराशि उपलब्ध नहीं है, तो 14 करोड़ आम जनता को जिसमें बम्बई प्रेसीडेंसी के 90,0000 छात्र भी शामिल हैं, को शिक्षित करने का प्रयास नहीं रहता। यह लक्ष्य ऐसा नहीं है जो सरकार प्राप्त कर सके या उसके निकट पहुँच सके अत: शिक्षा बोर्डों को उपकार के अपेक्षाकृत सीमित और व्यावहारिक क्षेत्र से विमुख नहीं होना चाहिए।"

"पंद्रहवाँ पैराग्राफ : सीमित साधनों से अच्छे परिणाम दिखाने के बारे में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के विचार – माननीय कोर्ट ने पिछले पैराग्राफ में निकाले गये निष्कर्ष का हमेशा निश्चित रूप से ध्यान रखा है। यह महसूस करते हुए कि लोगों को शिक्षित करने के लिए बहुत कम प्रयास किये जा सकते हैं, उन्होंने सीमित साधनों से अच्छे से अच्छे परिणाम दिखाने के सही तरीके के बारे में अपनी विभिन्न सरकारों को बताना आवश्यक समझा है। हम इस आशय के सरकार को दिये गये आदेश का पहले उल्लेख कर चुके हैं और उसी तारीख को सरकार को विज्ञप्ति दी गयी। इससे एक ही भाव की पुष्टि होती है– "हमारी यह तीव्र आकांक्षा है कि भारत के उच्च श्रेणी के मूल निवासियों को यूरोपीय विज्ञानों की शिक्षा दी जाये और सभ्य यूरोप का साहित्य उपलब्ध कराया जाय। उच्च वर्गों के लोगों के चरित्र तथा प्राकृतिक प्रभाव से अन्तत: जनसाधारण के चरित्र का निर्माण होता है।"

"सोलहवाँ पैराग्राफ : भारत के उच्च वर्गों की जाँच – यह स्पष्ट हो जाने पर कि भारत में सरकार बहुत कम लोगों को शिक्षा दे सकती है और माननीय कोर्ट द्वारा वास्तव में यह निर्णय ले लिये जाने पर, कि यह शिक्षा केवल उच्च वर्गों को ही दी जा सकती है, यह पता लगाना आवश्यक है कि उच्च वर्गों में कौन लोग आते हैं। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि यूरोपीय जाँचकर्ता, यूरोप के लोगों की भारत के लोगों

से तुलना न करें जो अपने आप को प्रायः आँग्ल भारतीय मानते हैं। यूरोप में विशेष रूप से इंग्लैंड में परिस्थितियों के कारण व्यवहार, धन, राजनैतिक और सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से उच्च और निम्न वर्गों में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है। भारत में ऐसा कोई अन्तर नहीं है। हर तानाशाही की तरह भारत में भी यदि राजा चाहे तो वह रंक को राजा बना सकता था। यह कारण है कि भारत में व्यवहार की दृष्टि से सभी लोग बराबर थे। अंग्रेजों की धारणा है कि एक भिखारी पशु के बराबर है और वह दरिद्रालय में ही शोभा बढ़ा सकता है, लेकिन भारत में वह एक प्रतिष्ठित व्यक्ति है और ब्राह्मणवादी सिद्धान्त के अनुसार पूजनीय है क्योंकि वह एक ऐसा व्यक्ति है जिसने ज्ञान प्राप्त करने और देवता की निर्विघ्न पूजा करने के लिए जीवन के सभी सुख साधनों को त्याग दिया है।"

"**सत्रहवाँ पैराग्राफ : भारत में उच्च वर्ग –** भारत में जिन वर्गों को प्रभावशाली और उच्च वर्ग समझा जा सकता है वे इस प्रकार हैं–

पहला – जमींदार, और जागीरदार, पुराने सामन्तों के प्रतिनिधि, देशी राजाओं के अधिकारी और सिपाही।

दूसरा – वे लोग जिन्होंने व्यापार अथवा वाणिज्य से धन प्राप्त कर लिया है अथवा व्यापारी वर्ग।

तीसरा – सरकार के उच्च अधिकारी।

चौथा – ब्राह्मण जिनमें उच्च जातियों के लेखकों को सम्मिलित किया जा सकता है यद्यपि वे काफी अन्तराल के बाद आये जिन्होंने लेखनी को अपनी आजीविका का साधन बनाया जैसे बम्बई में प्रभू और शैनविस। बंगाल में कायस्थ, बशर्ते वे पांडित्य अथवा व्यवस्था में कोई स्थान प्राप्त कर लेते हैं।"

"**अठारहवाँ पैराग्राफ : ब्राह्मण अति प्रभावशाली –** उक्त चारों वर्गों में से परवर्ती वर्ग बहुत ही प्रभावशाली और अधिसंख्य है और इसे कुल मिलाकर सरकार द्वारा आसानी से प्रभावित किया जा सकता है। सम्पूर्ण भारत में यह माना हुआ तथ्य है कि प्राचीन जागीरादर या सिपाही वर्ग का स्तर प्रतिदिन हमारे राज्य में गिरता जा रहा है। उनका पुराना पेशा नहीं रहा और उन्हें नया पेशा अपनाने अथवा कला को बढ़ावा देने में कोई रुचि नहीं है। उनके उत्तराधिकारियों ने भूमि सम्पन्न अभिजात वर्ग को सम्भालने के प्रयास किये किन्तु वे बुरी तरह असफल रहे। सिपाही वर्ग को नागरिक सम्मान और शिक्षा के माध्यम से प्रतिष्ठा देने के सभी प्रयास अभी तक असफल रहे हैं और उन्हें केवल आडम्बर तथा उच्छृंखलता तथा हिन्दुस्तान के मैदानों में अपने पूर्वजों के सफल आक्रमणों की याद ही अच्छी लगती है। इसी प्रकार व्यापारी वर्ग को भी कुछ अपवादों को छोड़ कर उच्च शिक्षा देने में कोई रुचि नहीं है। यूरोप के अधिक सभ्य देशों को छोड़ कर अन्य सभी देशों की भाँति भारत में भी युवा व्यापारियों को अपनी स्कूली शिक्षा जल्दी

छोड़ देनी होती है, ताकि वह अपने व्यवसाय के लिए आवश्यक विशेष शिक्षा प्राप्त कर सकें। अन्त में जहाँ तक सरकारी अधिकारियों का सम्बन्ध है यद्यपि सरकार के सम्पर्क में आने वाले लोगों पर उनका काफी प्रभाव होता है, उनका सरकार के सम्पर्क में न आने वाले बहुसंख्यक लोगों पर कोई प्रभाव नहीं होता और जनता उन पर सन्देह करती है और उनको भाड़े का टट्टू समझती है जैसा कि इंग्लैंड में होता है।"

"**उन्नीसवाँ पैराग्राफ : ब्राह्मणों की गरीबी –** उपर्युक्त विश्लेषण यद्यपि लम्बा लगता है फिर भी अपरिहार्य है, क्योंकि इससे कुछ अपरिहार्य निष्कर्ष निकलते हैं। सबसे पहले यह प्रमाणित करता है कि प्रभावशाली वर्ग में जिसको सरकार शिक्षा का प्रसार करने के काम में लगा सकती है वह है ब्राह्मण तथा इनमें मिलती-जुलती अन्य उच्च जातियाँ आती हैं। लेकिन ब्राह्मण और इन उच्च जातियों के अधिकांश लोग काफी गरीब हैं और भारत के अनेक भागों में ब्राह्मण एक भिखारी का पर्यायवाची है।"

"**बीसवाँ पैराग्राफ : धनवान वर्ग वर्तमान में उच्च शिक्षा का समर्थन नहीं करेंगे –** हम देखते हैं कि काउंसिल में लॉर्डशिप ने दिनांक 24 अप्रैल, 1850 के अपने पत्र में हमें जो आदेश दिया उसे लागू करना बहुत निराशाजनक है। धनी लोगों को, जो इसके लिए भुगतान कर सकते हैं तथा असामान्य बुद्धि के युवकों को ही शिक्षा देने का सिद्धान्त ऊपर से देखने पर तो युक्तिसंगत और सही प्रतीत होता है लेकिन वास्तव में बोर्ड ने बार-बार प्रयास करके देख लिया है और उसे अनिवार्य रूप से हमेशा यह उत्तर मिला है कि धनी व्यक्ति पूर्णतः उच्च शिक्षा के प्रति उदासीन है और गरीबों में असामान्य बुद्धि का तब तक पता नहीं लगाया जा सकता जब तक कि स्कूली शिक्षा से उनकी मानसिक शक्ति की जाँच न कर ली जाये और उसे विकसित न कर लिया जाये। धनवानों में से कुछ लोगों को जो उच्च शिक्षा के लाभ को पहचानते हैं, निस्सन्देह यह मानते हैं कि उच्च शिक्षा लाभप्रद है। बंगाल में ऐसे लोगों की संख्या अधिक है, जहाँ सरकार शिक्षा को काफी समय से बढ़ावा दे रही है। बम्बई में ऐसे लोगों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। हम इस वर्ग में वृद्धि अनिवार्य समझते हैं, क्योंकि हमारा अनुभव है कि उच्च शिक्षा प्राप्त करके समानता के आधार पर सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव होगा। लेकिन फिलहाल सामान्यतः हम मानते हैं कि यूरोप की कला तथा विज्ञान में उच्च शिक्षा छात्रों से अंशदान लेकर या भारत के धनी लोगों से पैसा लेकर नहीं दी जा सकती।"

"**इक्कीसवाँ पैराग्राफ : निम्न जातियों को शिक्षित करने का प्रश्न–** कई वर्षों के अनुभव से हमारे सामने जो तथ्य आये हैं उनसे यही व्यावहारिक निष्कर्ष निकलता है कि उच्च जातियों के गरीब लोगों के बच्चों के लिए जो हमसे शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक हैं, शिक्षा संस्थानों के द्वार खोल दिये जाने चाहिए। लेकिन जहाँ पुनः एक कठिन प्रश्न उठता है और वह यह है कि यदि गरीब बच्चों को सरकारी संस्थाओं में निर्बाध रूप से दाखिल किया जाता है तो ढेड़, महार आदि उपेक्षित जातियों के बच्चों को इन

संस्थाओं में आने से क्यों रोका जाये?"

"बाइसवाँ पैराग्राफ : हिंदुओं का सामाजिक पक्षपात – सोचने की बात यह है कि यदि उपेक्षित बच्चों की कोई कक्षा बम्बई में बनाई गई, तो उन्हें समाज के अन्य लोगों की तरह उच्च बुद्धि के व्यक्ति बनाने के लिए बोर्ड के अन्तर्गत सेवा करने वाले प्रोफेसरों और अध्यापकों के प्रभाव में शिक्षित करना होगा और ऐसा करने पर वे अपेक्षित योग्यताएँ प्राप्त कर लेंगे और ऐसी स्थिति में उन्हें देशी प्रतिभावान व्यक्तियों के लिए खुले न्यायाधीश, ज्यूरी आदि के उच्चतम पदों की आकांक्षा करने से कोई नहीं रोक सकेगा। कुछ परोपकारी लोग सोचते हैं कि इन देशों के वशीभूत होना ब्रिटिश सरकार की अशिष्टता और कमजोरी की पराकाष्ठा होगी क्योंकि ऐसी नियुक्तियों से हिन्दू समाज में घृणा पैदा होगी। इसलिए अच्छा यह होगा कि जाति के बन्धनों को तोड़ा जाये।

"तेईसवाँ पैराग्राफ : माननीय माउंट स्टूअर्ट एलफिन्स्टन के विवेकपूर्ण कथनों से उद्धरण – लेकिन बहुत ही उदार और विशाल मन वाले प्रशासक श्री एलफिन्स्टन की जो भारत का पक्षधर था, विवेकपूर्ण टिप्पणियों से सही कार्य-विधि का पता चलता है। उन्होंने कहा है, "यह देखने में आता है कि धर्म प्रचारकों को निम्नतम जातियों के बच्चे अच्छे लगते हैं। लेकिन हमें इन वर्गों के लोगों को प्रोत्साहन देने के मामले में काफी सावधानी बरतनी चाहिए। वे सब से अधिक उपेक्षित ही नहीं है, अपितु समाज में गिनती के हिसाब से बहुत कम हैं। इसलिए इस बात की आशंका है कि हमारी शिक्षा पद्धति की जड़ें उनमें फैल गयीं तो आगे नहीं बढ़ेंगी। और हम एक नये वर्ग के ऊपर बैठे होंगे जो उपयोगी ज्ञान में अन्य लोगों से आगे होंगे। लेकिन उन जातियों की आँखों में घृणा के पात्र होंगे जिनको ऐसी शिक्षा मिलनी चाहिए। यदि हम अपनी सेना अथवा कुछ लोगों के बल पर अपनी सत्ता चलाना चाहते हैं, लेकिन इसे व्यापक आधार देने का प्रयास नहीं करते, तो यह असंगत होगा।"

5. अतः यह स्पष्ट है कि यदि 1855 से पूर्व बम्बई प्रेसीडेंसी में अछूतों के लिए कोई स्कूल नहीं खोले गये थे तो इसका कारण यह था कि अंग्रेज सरकार चाहती थी कि शिक्षा का लाभ गरीब उच्च वर्गों, विशेष रूप से ब्राह्मणों को पहुँचाया जाये। यह नीति ठीक थी या गलत, यह दूसरा प्रश्न है। तथापि तथ्य यह है कि इस अवधि के दौरान सरकार ने दलित जातियों को शिक्षा के वरदान में भागीदार नहीं बनने दिया।

II (1854 से 1882)

6. कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने अपने डिस्पैच संख्या 49 दिनांक 19 जुलाई, 1854 में निम्नलिखित टिप्पणी की– "यदि सम्भव हो तो अब हमारा ध्यान उस विषय पर विचार करने पर जाना चाहिए जो ज्यादा महत्त्वपूर्ण है और हम यह स्वीकार करते हैं कि इसकी अब तक बहुत अपेक्षा की गयी है अर्थात जीवन के हर मुकाम के लिए उपयुक्त, उपयोगी

और व्यावहारिक ज्ञान का प्रसार उस विशाल जन समूह में कैसे किया जाये जो अपने प्रयासों से नाम-मात्र भी शिक्षा प्राप्त करने की क्षमता नहीं रखते और हम चाहते हैं कि सरकार विशेष रूप से भविष्य में इस विषय की ओर अधिक ध्यान दे जिसको पूरा करने के लिए हम बहुत अधिक व्यय की मंजूरी देने के लिए तैयार हैं।" यह मानना ठीक ही है कि इस देश में डिस्पैच ने देश में जनसाधारण के लिए शिक्षा की नींव रखी। इस नीति के परिणामों पर सर्वप्रथम 1882 में भारत में शिक्षा सम्बन्धी हंटर आयोग ने विचार किया। निम्नलिखित आँकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि गत 28 वर्षों की अवधि में क्या उपलब्धि रहीं–

प्राथमिक शिक्षा
1881-82

	स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या	**कुल छात्रों की तुलना में प्रतिशत**
ईसाई	1521	49
ब्राह्मण	63,071	20.17
अन्य हिन्दू	202,345	64.49
मुसलमान	39,231	12.54
पारसी	3,517	1.12
आदिवासी व पहाड़ी कबीले	2,713	.87
निम्न जाति हिन्दू	2,862	.87
यहूदी और अन्य	373	.12

माध्यमिक शिक्षा
1881-82

	मिडिल स्कूलों में विद्यार्थियों की		**हाई स्कूलों में विद्यार्थियों की**	
	संख्या	**प्रतिशत**	**संख्या**	**प्रतिशत**
ईसाई	1,419	12.6	111	2.26
ब्राह्मण	3,639	30.70	1,978	40.29
अन्य हिन्दू : किसान	624	5.26	140	2.85
निम्न जातियाँ	17	.14	-	-
अन्य जातियाँ	3,823	32.25	1,573	32.04
मुसलमान	687	5.80	100	2.04
पारसी	1,526	12.87	865	19.66
आदिवासी व पहाड़ी कबीले	06	0.05	-	-
अन्य (यहूदी आदि को मिलाकर	103	.87	92	.86

कॉलेजों में शिक्षा
1881-82

	विद्यार्थियों की संख्या	विद्यार्थियों का प्रतिशत
ईसाई	14	3
ब्राह्मण	241	50
अन्य हिन्दू : किसान	5	1
निम्न जातियाँ	0	0
अन्य जातियाँ	103	21.3
पारसी	108	21.5
मुसलमान	7	1.5
आदिवासी व पहाड़ी कबीले	0	0.0
अन्य (यहूदियों आदि को मिलाकर	2	0.4

7. इन आँकड़ों से क्या पता चलता है? इनसे यह पता चलता है कि सरकार की नीति जनसाधारण को शिक्षा देने की थी। आम जनता 1854 से पहले की भाँति तब भी शिक्षा से वंचित थी। शिक्षा के मामले में हिन्दुओं की निम्नतम जातियों और आदिवासियों का प्रतिशत सबसे कम था। यहाँ तक कि 1881-82 में इस प्रेसीडेंसी के हाई स्कूलों और कॉलेजों में इन समुदायों का कोई भी विद्यार्थी नहीं था। शिक्षा के मामले में दलित वर्गों को अन्य वर्गों के स्तर तक लाने में यह असफलता किन कारणों से रही? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए इस प्रेसीडेंसी की शिक्षा नीति के इतिहास में पुनः जाना आवश्यक है।

8. कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के वर्ष 1854 के डिस्पैच में 40 वर्ष के अन्तराल के पश्चात् प्रथम बार यह स्वीकार किया गया कि जनसाधारण को शिक्षा देना सरकार का कर्तव्य है। लेकिन अभी तक कुछ ऐसे हठधर्मी लोग थे जिन्हें इस डिस्पैच में उल्लिखित सिद्धान्त की उपयुक्तता पर सन्देह था और जो इस नीति को बदलने के लिए आन्दोलन चला रहे थे। पिछड़े वर्गों का स्तर ऊँचा उठाने के परिणामस्वरूप अंग्रेजी शासन के लिए गम्भीर होने का डर अभी भी नियन्त्रण बोर्ड के अध्यक्ष लॉर्ड ऐलनबोरो जैसे लोगों के मन में छाया हुआ था, जिन्होंने कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के चेयरमैन को दिनांक 24 अप्रैल 1858 को लिखे अपने पत्र में निम्नलिखित चेतावनी देने में आनाकानी नहीं की– "सज्जनों, 1854 में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के द्वारा भेजे गये अनुदेशों के तहत भारत के विभिन्न भागों में शिक्षा की स्थिति की पुनरीक्षा करने के बारे में मुझे कई पत्र मिले हैं और मैं

मानता हूँ कि उनसे मुझे नहीं लगता कि जो नीति स्थापित की गयी थी उससे अपेक्षित लाभ प्राप्त हुआ है जबकि शुल्क में अपेक्षित वृद्धि का लक्ष्य पूरा होने वाला है।

"ग्यारहवाँ पैराग्राफ : मेरा विश्वास है कि हम निम्न वर्ग के लोगों को अपने बच्चे हमारे स्कूलों में भेजने के लिए प्रेरित करें, जो बहुत कम करते हैं और यदि हम शिक्षा के मामले में सफल होना चाहते हैं, तो हमें श्रमिक वर्ग के मानसिक स्तर को ऊँचा करने का प्रयास करना चाहिए और ज्यादा धनी वर्ग की ओर ध्यान नहीं देना चाहिए।"

"बारहवाँ पैराग्राफ : इससे समाज पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। हमारी सरकार निम्न वर्ग के उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों की इस प्रकार जागृत की गयी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सकेगी।"

"तेरहवाँ पैराग्राफ : गरीब लोगों को उच्च शिक्षा देने से आम लोगों पर उनका काफी प्रभाव हो जाएगा और इस प्रकार गरीब लोगों में असन्तोष बढ़ेगा।"

"चौदहवाँ पैराग्राफ : शिक्षा और सभ्यता उच्च वर्गों से निम्न की ओर आनी चाहिए और इससे शक्ति का संचार होगा, किन्तु शिक्षा और सभ्यता का प्रसार निम्न वर्गों से उच्च वर्गों में नहीं हो सकता, शिक्षा और सभ्यता केवल निम्न वर्गों को प्रदान की जाती है तो इससे खलबली होगी जिसकी लपेट में सबसे पहले विदेशी आएँगे।"

"पन्द्रहवाँ पैराग्राफ : यदि हम शिक्षा का प्रसार करना चाहते हैं तो हमें पहले उच्च वर्गों को शिक्षा देने का प्रयास करना चाहिए।"

"सोलहवाँ पैराग्राफ : ऐसा करने के दो तरीके हैं– एक तो कॉलेजों की स्थापना करके, जिसमें केवल उच्च वर्गों के छात्रों को ही दाखिल किया जाये और दूसरा सेना का पुनर्गठन करके जसमें मूल निवासियों के बेटों को जो योग्य हों, तुरन्त कमीशन दिया जाये।"

9. यूरोपीय अधिकारियों का अछूतों के प्रति यह द्वेष–भाव अन्ततः भारत के लिए सचिव द्वारा 1859 के अपने इस डिस्पैच में समाप्त किया गया, जिसमें यह दोहराया गया कि लोगों को शिक्षा देना सरकार की जिम्मेदारी है।

10. यह बड़ी विचित्र बात है कि सरकार द्वारा यह मान लिए जाने पर भी कि आम लोगों को शिक्षा देना सरकार की जिम्मेदारी है, दलित वर्गों को नाम मात्र ही लाभ हुआ। इसका कारण यह है कि यद्यपि विभिन्न जिलों में आम जनता के लिए विद्यालय खोले गये। दलितों के बच्चों को इन विद्यालयों में दाखिले का प्रश्न सुलझ नहीं पाया। इस प्रकार का प्रश्न वास्तव में 1856 में उठा था, लेकिन सरकार का फैसला दलित वर्गों के पक्ष में नहीं था, जैसा कि डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन की बम्बई पारसीडेंसी के बारे में 1856–57 की रिपोर्ट के निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है–

पैराग्राफ 177 : निम्न जातियों और जंगली कबीलों के विद्यालय – सरकार द्वारा सीधे निम्न वर्ग के लिए विद्यालय स्थापित नहीं किये गये हैं और उच्चतम सरकार ने ऐसे विद्यालयों के लिए स्वीकृति नहीं दी है। सरकार द्वारा पूर्णत: समर्थित सामान्य विद्यालय सिद्धान्तत: सभी जातियों के लिए खोले हैं। इसी 1855-56 की रिपोर्ट के प्रेक्षण के दौरान सरकार ने निम्नलिखित आदेश जारी किया– "सरकार के समक्ष अभी तक ऐसा एक ही मामला आया है जिसमें सरकारी विद्यालयों में निम्नतम वर्ग के छात्रों के दाखिले का प्रश्न उठाया गया है और वह मामला एक महार लड़के के बारे में है जिसकी ओर से जून 1856 में एक याचिका दी गयी जिसमें शिकायत की गयी कि वह सामान्य विद्यालय शुल्क देने के लिए तैयार था फिर भी उसे धारवाड़ के सरकारी विद्यालय में दाखिला नहीं दिया गया। इस अवसर पर सरकार ने एक ऐसे प्रश्न के निर्णय में एक बड़ी व्यावहारिक कठिनाई महसूस की जिसमें सामान्य अधिकार के बारे में उनकी धारणाएँ मूल निवासियों की सामान्य अनुभूतियों से मेल नहीं खाती थीं जिनकी अधिक से अधिक चेतना के लिए सरकारी शिक्षा विभाग की स्थापना की गयी है और यह फैसला किया गया जो उस समय कुछ हिचकिचाहट के साथ पारित प्रस्ताव से भी स्पष्ट हो जाता है कि एक व्यक्ति को केवल एक महार को जो सवर्ग जातियों के छात्रों के स्कूल में दाखिला लेने आया है, दाखिला देना और उनके साथ मिल-जुल कर रहने के लए बाध्य करना उचित नहीं होगा क्योंकि इससे मूल निवासियों के लिए संस्था के वास्तव में बेकार हो जाने की सम्भावना है।"

इस मामले में बम्बई सरकार की कार्यवाही दिनांक 23 जनवरी, 1857 के पत्र संख्या 111 में निम्नलिखित शब्दों में भारत सरकार द्वारा नोट की गयी–

"गवर्नर जनरल इन काउंसिल का विचार है कि सम्भवत: बम्बई सरकार ने इस मामले में विवेक से काम लिया, लेकिन वह चाहता है कि मैं भारत सरकार का सचिव यह कहूँ कि बंगाल प्रेसीडेंसी के किसी सरकारी स्कूल में इस लड़के को दाखिला देने से इन्कार नहीं किया गया होता।" दिनांक 28 अप्रैल, 1858 के डिस्पैच में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने इस विषय पर निम्न आदेश पारित किया–

"सरकार की सभी शिक्षण-संस्थाएँ, हमारी ओर से सभी वर्गों के लिए खुली हैं और हम एक ऐसे सिद्धान्त से विमुख नहीं हो सकते, जो पर्याप्त उचित है और जिसे लागू करना महत्त्वपूर्ण प्राथमिकता है। यह असंभव नहीं है कि कुछ मामलों में, सिद्धान्त लागू होने के बाद कुछ छात्र विद्यालय छोड़ दें। लेकिन इस बारे में यह टिप्पणी पर्याप्त है कि जो व्यक्ति इसके व्यवहार में लागू करने पर आपत्ति करें, वे अपना अंशदान वापस ले सकते हैं और उस राशि को अन्य प्रकार के स्कूल बनाने पर खर्च कर सकते हैं।"

इस पत्र के प्राप्त होने पर यह निश्चय किया गया कि भारत सरकार को आश्वस्त

किया जाए कि जाति के मामले में इस समय भारत में जो विशिष्ट विद्यालय हैं, उनको कम विशिष्ट बनाने के लिए यह सरकार हर सम्भव उपाय करेगी। बशर्ते कि ऐसा करने से सरकारी स्कूलों की बदनामी न हो, उनकी कार्यकुशलता पर प्रतिकूल प्रभाव न पड़े और वह उद्देश्य ही समाप्त न हो जाये जिसके लिए इनकी स्थापना की गयी है। यह भी निश्चय किया गया कि सरकारी विद्यालयों की सामान्य उपयोगिता के सन्दर्भ में बंगाल में लागू सिद्धान्त के व्यावहारिक पहलुओं की जाँच की जाये।

11. बंगाल में प्रचलित प्रभाव की जाँच से पता चला कि भारत सरकार के आदेश के विपरीत वहाँ के अधिकारियों ने जिला शिक्षा समितियों को प्रत्येक मामले में स्थानीय मूल निवासियों की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए निम्न जातियों के उम्मीदवारों को दाखिला देने अथवा न देने का अधिकार दे दिया था। इसका परिणाम यह हुआ कि दलितों को निरुत्साहित छोड़ दिया गया था क्योंकि सवर्ण लोगों ने उन्हें ज्ञान की उस आग पर नहीं बैठने दिया, जो सरकार ने जनता के हित में जलाई थी।

12. इन हालातों में 1854 के डिस्पैच में परिकल्पित जन शिक्षा वास्तव में दलित वर्गों को छोड़ कर बाकी सब को उपलब्ध थी। 1854 में दलित वर्गों की शिक्षा पर लगे प्रतिबन्ध को हटाने से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। इसका कारण यह था कि यद्यपि सरकार ने बहिष्कृत न करने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था पर इसे वास्तव में लागू नहीं किया गया और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रतिबन्ध पहले की तरह ही जारी रहा। दलित वर्गों को शिक्षा देने का काम केवल ईसाई मिशनरी ही कर सके। सर माउंट स्टूअर्ट एलफिंस्टन के शब्दों में कि उन्होंने निम्नतम वर्गों में सर्वोत्तम छात्र पाए हैं, लेकिन सरकार ने धर्म के मामले में दखल न देने की कसम खाई थी और इसलिए मिशनरी स्कूलों का समर्थन नहीं कर सकती थी। यही कारण है कि इस अवधि के आरम्भ में इस प्रेसीडेंसी के किसी मिशनरी विद्यालय को कोई आर्थिक सहायता नहीं दी गयी, यद्यपि 1854 के शिक्षा डिस्पैच द्वारा मिशनरी विद्यालयों को सहायता देने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया था।

13. इस गतिरोध को दूर करने के लिए सरकार ने दो उपाय किये– (1) निम्न जातियों के लड़कों के लिए सरकारी विद्यालय खोले गये और (2) सहायता अनुदान के नियमों को ढीला करके मिशनरी संस्थाओं को विशेष प्रोत्साहन दिया गया। यदि ये दो उपाय न किये गये होते तो दलित वर्गों की शिक्षा का कोई परिणाम न निकलता। यह बात इस तथ्य से स्पष्ट हो जाती है कि जब हंटर कमीशन ने 1882 में स्थिति का जायजा लिया तो पता चला कि दलितों के बहुत ही कम लोग शिक्षा प्राप्त कर सके हैं।

III (1882 से 1923)

14. वर्ष 1882 के पश्चात्, वर्ष 1923 का बम्बई प्रेसीडेंसी में शिक्षा के इतिहास में बड़ा महत्त्व है। इस वर्ष प्राथमिक शिक्षा का काम प्रांतीय सरकारों से लेकर स्थानीय संस्थाओं को दे दिया गया। अतः यह उचित होगा कि 1923 में शिक्षा की स्थिति का जायजा लिया जाए। 1923 में बम्बई प्रेसीडेंसी में शिक्षा की प्रगति के मामले में विभिन्न समुदायों की स्थिति नीचे सारणी में दी गयी है–

प्रेसीडेंसी में जनसंख्या के वर्ग*	जनसंख्या की दृष्टि से क्रम	शिक्षा की दृष्टि से क्रम		
		प्राथमिक	माध्यमिक	कॉलेज
उन्नत हिंदू	चौथा	पहला	पहला	पहला
मध्यवर्ती हिंदू	पहला	तीसरा	तीसरा	तीसरा
दलित हिंदू	दूसरा	चौथा	चौथा	चौथा
मुसलमान	तीसरा	दूसरा	दूसरा	दूसरा

15. इस सारणी से शिक्षा के मामले में विभिन्न समुदायों की तुलनात्मक प्रगति में बड़ी विषमता का पता चलता है। आबादी की दृष्टि से और शैक्षणिक प्रगति की दृष्टि से सभी वर्गों की तुलना करने से पता चलता है कि मध्यवर्ती वर्ग, जो आबादी की दृष्टि से प्रथम स्थान पर आता है, कॉलेज शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा तथा प्राथमिक शिक्षा की दृष्टि से तीसरे स्थान पर है। दलित (पिछड़ा) वर्ग जिनका जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा स्थान है कॉलेज शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा और प्राथमिक शिक्षा की दृष्टि से चौथे स्थान अर्थात अन्तिम स्थान पर है। मुसलमान जो जनसंख्या की दृष्टि से तीसरे स्थान पर है कॉलेज, माध्यमिक तथा प्राथमिक शिक्षा की दृष्टि से दूसरे स्थान पर है जबकि उन्नत हिन्दू जिनका जनसंख्या की दृष्टि से चौथा स्थान है कॉलेज शिक्षा, माध्यमिक शिक्षा और प्राथमिक शिक्षा, सभी में प्रथम स्थान पर हैं। इन आँकड़ों के आधार पर हम कह सकते हैं कि इस सम्बन्ध में जो स्थिति 1882 में थी उसमें तुलनात्मक दृष्टि से कोई सुधार नहीं हुआ है।

16. उपरोक्त विवरण से जो बम्बई प्रेसीडेंसी के शिक्षा निदेशक की 1923-24 की रिपोर्ट पर आधारित है, विभिन्न समुदायों की शैक्षिक प्रगति में पायी जाने वाली विषमता का पता चलता है। किन्तु विभिन्न समुदायों के शिक्षा स्तर पर विषमता कोई बड़ी बात नहीं है। हम यह जाने बिना कि कितनी विषमता है किसी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते। इस दृष्टि से स्थिति को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित सारणी प्रस्तुत है :

* बम्बई की सरकार के शिक्षा विभाग ने, इस प्रेसीडेंसी को विभागीय उद्देश्य से चार वर्गों में वर्गीकृत किया है। उनमें एक वर्ग ब्राह्मणों एवं संबंधित जातियों का है, जो समेकित रूप से 'उन्नत हिंदू' कहलाते हैं। मराठा तथा उनसे संबंधित जातियाँ एक अलग वर्ग में है, जिसे 'मध्यवर्ती हिंदू' कहा जाता है। शेष हिंदू जनसंख्या, जो दलित वर्ग, पहाड़ी जनजातियों तथा अपराधी-जातियों से संबंधित है, 'पिछड़े वर्ग' में आती है। इनके अलावा एक चौथा वर्ग है, जिसमें मुसलमान तथा सिंधी शामल हैं।

सारणी

जनसंख्या के वर्ग	प्राथमिक शिक्षा वर्ग-जनसंख्या के प्रति हजार पर छात्र-संख्या	माध्यमिक शिक्षा वर्ग-जनसंख्या के प्रति हजार पर छात्र-संख्या	कॉलेज शिक्षा वर्ग-जनसंख्या के प्रति हजार पर छात्र-संख्या
उन्नत हिंदू	119	3,000	1,000
मुसलमान	92	500	52
मध्यवर्ती वर्ग	38	140	24
पिछड़ा वर्ग	18	14	शून्य (या सिर्फ एक)

17. उपर्युक्त आँकड़ों से यह पता चलता है कि प्रत्येक समुदाय, अन्य समुदायों से प्राथमिक, माध्यमिक और कॉलेज शिक्षा के मामले में कितना आगे है। उन आँकड़ों से इस प्रेसीडेंसी के विभिन्न समुदायों में विषमता का पता चलता है, जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा के मामले में कुछ समुदायों की स्थिति बहुत खराब है। उपरोक्त आँकड़ों से दो तथ्य निर्विवाद रूप से सामने आते हैं। पहला यह कि इस प्रेसीडेंसी के पिछड़े वर्गों की शैक्षणिक स्थिति शोचनीय है। जनसंख्या के मामले में उनका दूसरा स्थान है, लेकिन शिक्षा के मामले में उनका स्थान अन्तिम ही नहीं, अपितु उनकी संख्या भी सबसे कम है। दूसरा यह कि इस प्रेसीडेंसी के मुसलमानों ने शिक्षा के क्षेत्र में काफी प्रगति की है। 30 वर्षों की अल्पावधि में वे मध्यवर्ती और पिछड़े वर्गों से ही आगे नहीं निकल गये हैं, अपितु ब्राह्मणों तथा सम्बद्ध जातियों के भी निकट आ गये हैं।

18. इसके कारण क्या हो सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भी गैर-बराबरी थी। हम कहेंगे कि इसका कारण सरकार द्वारा अपनाई गयी असमान व्यवहार की नीति है। दो वर्गों के साथ व्यवहार में कितना अन्तर था, यह बात शिक्षा के बारे में पाँच वर्षों की रिपोर्ट से स्पष्ट हो जाएगी। शिक्षा के मामले में मुसलमानों के साथ (1892-96) व्यवहार के सम्बन्ध में तीसरे पंचवर्षीय प्रतिवेदन में अन्तर्विष्ट निम्नलिखित टिप्पणियाँ उल्लेखनीय हैं–

बम्बई में मुसलमानों की शिक्षा से सम्बन्धित आँकड़ों के सम्बन्ध में निदेशक ने कहा है कि यदि परिस्थितियाँ प्रतिकूल न होतीं तो इन आँकड़ों में और अधिक वृद्धि होती। बम्बई में काफी समय से यह स्वीकार किया जा रहा है कि मुसलमान अन्य लोगों की तुलना में शिक्षा संस्थाओं का अधिक प्रयोग करते हैं। यह सामान्य प्रश्न पूछे जाने पर कि मुसलमानों में शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए क्या किया गया है?

शिक्षा निदेशक ने कहा– "पहली बात तो यह है कि प्रत्येक जिले में एक मुसलमान अधिकारी उपनिरीक्षक अथवा सहायक उपनिरीक्षक नियुक्त किया जाता है और हमारे तीन मुसलमान स्नातक, कैरा, शोलापुर और हैदराबाद में उपनिरीक्षक के रूप में नियुक्त किये

गये हैं, जबकि चौथे की नियुक्ति इससे ऊँचे पद पर राजस्व विभाग में की गयी है। इस प्रकार ऐसा कोई जिला नहीं है जहाँ कर्मचारियों का मुसलमानों से सम्पर्क न हो। बम्बई, कराची और जूनागढ़ (काठियावाड में एक मुसलमान राज्य) में मुसलमानों के लिए उच्च विद्यालयों की व्यवस्था करने के लिए प्रयास किये गये हैं। वहाँ फीस कम रखी गयी है तथा दूसरे स्थानों पर अन्य अंजुमनों (मुसलमान संघों) द्वारा छोटे विद्यालय खोले गये हैं। विभाग उनके लाभ के लिए विशेष मानकों का भी प्रावधान करता है और कुछ क्षेत्रों में विशेष विद्यालय भी चलाता है। इसके अलावा उनके लिए एक तिहाई प्रांतीय व स्थानीय बोर्डों के वजीफे सुरक्षित रखे जाते हैं। इसके अलावा खान बहादुर काजी शहाबुद्दीन (एक समय बड़ौदा राज्य के दीवान) विशेष वजीफे स्थापित किये गये हैं। सिन्ध में आर्ट कॉलेज में पढ़ने वाले छात्रों के लिए खैरपुर के देशी राज्य के उत्तराधिकारी द्वारा छात्रवृत्तियाँ दी गयी हैं। (मुझे पिछले वर्ष इन्हें भरने में विशेष कठिनाई हुई थी यद्यपि यह रु 25/- प्रतिमाह के थे।) प्राथमिक पाठशालाओं में मुसलमानों के साथ फीस के मामले में बड़ी नरमी के साथ व्यवहार किया जाता है। विशेष नियमों के द्वारा इन्हें प्रशिक्षण कॉलेजों में आने के लिए प्रेरित किया जाता है। इन नियमों के अन्तर्गत हिन्दुओं की तुलना में उनसे आसान प्रश्न पूछे जाते हैं। बम्बई की संयुक्त विद्यालय समिति ने एक मुसलमान उपनिरीक्षक नियुक्त करके मुसलमानों में शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए हाल ही में विशेष प्रयास किये हैं।

19. इसकी तुलना में पाँचवें पंचवर्षीय प्रतिवेदन (1902-1907) में दलित वर्गों की शिक्षा के बारे में निम्नलिखित टिप्पणी की गयी है– "959 बम्बई – बम्बई के मध्य भाग में निम्न जातियों के बच्चे निःशुल्क विद्यालयों में दाखिल किये जा रहे हैं और उन्हें पुस्तकें तथा स्लेटें आदि उपहार के रूप मे मिलती हैं........ काठियावाड़ में दलित जातियों के केवल तीन बच्चे शिक्षा पा रहे हैं। दक्षिणी भाग में 72 विशेष विद्यालय हैं या उनकी कक्षाएँ हैं, लेकिन उनमें अधिकांश अध्यापक अयोग्य हैं।"

20. इस असमान व्यवहार का मूल कारण हंटर आयोग की सिफारिशें हैं। हंटर आयोग मुसलमानों के प्रति कितना पक्षपाती था, यह हंटर आयोग द्वारा मुसलमानों के बारे में लायी गयी सिफारिशों की तुलना, दलित वर्गों के हित में की गयी सिफारिशों से करने से स्पष्ट हो जाएगी। मुसलमानों के सम्बन्ध में आयोग ने जो 17 सिफारिशें कीं, उनमें से नीचे लिखी, उल्लेखनीय हैं:- (1) मुसलमानों की शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन देने पर स्थानीय संस्थाओं, नगरपालिकाओं और प्रांतों को जो खर्च करना पड़े, उसे उचित व्यय समझा जाय। (7) मुसलमानों में उच्च अंग्रेजी की, जो सबसे उत्तम शिक्षा है और जिसमें उस समुदाय को विशेष सहायता की आवश्यकता है, उसके लिए उदारता से प्रोत्साहन दिया जाये। (8) जहाँ आवश्यक हो, मुसलमानों के लिए विशेष छात्रवृत्तियों की क्रमबद्ध पद्धति स्थापित की जाए जो प्राथमिक विद्यालयों में दी जाए और माध्यमिक विद्यालयों में धार्य हो, माध्यमिक विद्यालयों में दी जाए और उच्च विद्यालयों में धार्य हो, और प्रथम

कला परीक्षाओं के परिणामों पर दी जाए और कॉलेजों में धार्य हो। (9) सरकारी धन से चलाए जा रहे मुसलमानों के स्कूलों की सभी कक्षाओं में एक निश्चित निःशुल्क छात्रवृत्तियाँ विशेष रूप से आरक्षित की जाएँ। (10) उन स्थानों पर जहाँ मुसलमानों के लिए धर्मदाय है और उनका प्रबन्ध सरकार करती है वहाँ ऐसे धर्मदायों से प्राप्त होने वाला धन केवल मुसलमानों में शिक्षा प्रसार पर खर्च किया जाय। (11) जहाँ मुसलमान रहते हैं और गैर -सरकारी व्यक्तियों के प्रबन्ध में हैं वहीं सहायता अनुदान प्रणाली के आधार पर अंग्रेजी पढ़ाने वाले विद्यालय या कॉलेजों की स्थापना करने के लिए उदार सहायता अनुदान के रूप में उन्हें प्रोत्साहन दिये जाएँ। (12) जहाँ आवश्यक हो, मुसलमान अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए सामान्य विद्यालय अथवा कक्षाएँ स्थापित की जाएँ। (16) मुसलमानों के प्राथमिक विद्यालयों का निरीक्षण करने के लिए भविष्य में अधिक मुसलमान निरीक्षण अधिकारियों की नियुक्त की जाये। (17) स्थानीय सरकारों का ध्यान उस अनुपात के प्रश्न की ओर आकर्षित किया जाये जिसमें मुसलमानों तथा अन्य लोगों को संरक्षण दिया जाता है।

21. हंटर आयोग की इन सिफारिशों में से प्रत्येक, दलित वर्गो के लाभ के लिए भी आवश्यक थीं। लेकिन जब हम, आयोग द्वारा पिछड़े वर्गो के हित में इनमें ऐसी कोई सिफारिश नहीं पाते जिसमें निर्देश दिया गया हो, कि पिछड़े वर्गो की शिक्षा पर होने वाला व्यय सरकारी कोष पर वैध प्रभार माना जाये, कि उनके छात्रवृत्तियाँ और धनराशि सुरक्षित रखी जाये, कि उनकी शिक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं का ध्यान रखने के लिए विशेष निरीक्षण अधिकारी रखे जाएँ या कि उनमें शिक्षा के विकास को प्रोत्साहन देकर उन्हें सार्वजनिक संरक्षण दिया जाय। हमें पता चला है कि आयोग ने केवल यह कहा है कि (1) किसी लड़के को केवल जाति के आधार पर सरकारी स्कूल या कॉलेज में दाखिला देने से मना न करने के सिद्धान्त की, एक सिद्धान्त के रूप में पुष्टि की जाये और इसे हर ऐसे संस्थान पर पूरी सावधानी से लागू किया जाये जो विशेष जातियों के लिए आरक्षित न हो और जिसका संचालन प्रांतीय नगर पालिका अथवा स्थानीय स्तर पर सरकारी खर्चे से होता है। (2) किन्हीं निम्न जातियों के बच्चों के लिए ऐसे स्थानों पर विशेष विद्यालयों या कक्षाओं की स्थापना को उदारता से बढ़ावा दिया जाय जहाँ पृथक विद्यालय या कक्षाएँ खोलने के लिए ऐसे बच्चों की पर्याप्त संख्या है और जहाँ पहले ही सरकारी धन से चल रहे विद्यालयों में उनकी शिक्षा के लिए पर्याप्त व्यवस्था नहीं है। तथ्य यह है कि आयोग द्वारा मुसलमानों के लिए की गयी सिफारिशें, मुसलमानों की अपेक्षा पिछड़े वर्गों के लिए ज्यादा जरूरी थीं। यही कारण है कि हंटर आयोग को, जिसके अध्यक्ष को मुसलमानों के साथ पूरी सहानुभूति भी स्वीकार करनी पड़ी कि "1871-73 में की गयी जाँच से यह सिद्ध हो जाता है कि उच्च शिक्षा के अलावा, मुसलमानों के पिछड़ेपन को बढ़ा-चढ़ा कर बताने

की प्रवृत्ति रही है।" इसके होते हुए भी हंटर आयोग ने केवल उपरोक्त दो सिफारिशें कीं। दलित वर्गों के सम्बन्ध में आयोग द्वारा की गयी इन दो सिफारियों में से भी कोई अधिक लाभ होने की सम्भावना नहीं थी अत: उनका निरर्थक जाना अवश्यंभावी था। इस सिद्धान्त की पुष्टि भी की गयी लेकिन यह बेकार थी। इसका कारण यद्यपि पाँचवीं बार यह था कि आयोग द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों के अनुसार इसे लागू नहीं किया जाना था। इसी प्रकार दलित वर्गों के लिए अलग विद्यालय खोलना भी सम्भव नहीं था। इसलिए इसका व्यर्थ जाना भी अवश्यंभावी था। अतिरिक्त खर्च करके अलग विद्यालय खोलना सरकार को स्वीकार्य नहीं था। सरकार के लिए तो प्राथमिक शिक्षा भी एक कठिन कार्य थी। इसके अलावा यह प्रतिबन्ध विद्यालय वहाँ खोले जाएँ जहाँ पिछड़े वर्गों की बड़ी संख्या रही है, इन सिफारिशों को नकारने के लिए पर्याप्त था, क्योंकि ग्रामीण क्षेत्रों में पिछड़े वर्ग किसी भी मोहल्ले में बड़ी संख्या में नहीं रहते हैं।

22. यह समझना कठिन है कि हंटर आयोग ने पिछड़े वर्गों की शिक्षा की आवश्यकता थी और इतना कम ध्यान क्यों दिया? यदि उसने मुसलमानों के प्रति उदार होना आवश्यक समझा, तो इसे पिछड़े वर्गों के प्रति न्यायसंगत होना चाहिए था, क्योंकि वे शिक्षा, संपत्ति और सामाजिक स्तर में मुसलमानों से बहुत पीछे थे। हंटर आयोग द्वारा एक बार उपेक्षा किये जाने पर वे हमेशा उपेक्षित रहे और सरकार ने उनकी ओर कभी ध्यान नहीं दिया। इस उपेक्षा के एक उदाहरण के तौर पर भारत सरकार के शिक्षा विभाग के दिनांक 21 फरवरी, 1923 के एक संकल्प की ओर ध्यान आकर्षित किया जा सकता है। यह भारत सरकार का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण संकल्प था। इस संकल्प में भारत सरकार ने अनेक प्रांतों में व्यापक शिक्षा पद्धति का विस्तार करने के लिए धनराशि उपलब्ध हो जाने पर शाही राजस्व से बड़ी मात्रा में अनुदान देकर स्थानीय सरकार की सहायता करने का निश्चय किया था। इस संकल्प में आयोग ने 'अधिवासी समुदाय' और मुसलमान समुदाय की शैक्षिक आवश्यकताओं की ओर विशेष रूप से प्रांतीय सरकारों का ध्यान दिलाया था। लेकिन इस पूरे संकल्प में पिछड़े वर्गों के लिए एक शब्द भी नहीं कहा। बम्बई सरकार ने तुरन्त ही यह सुझाव स्वीकार कर लिया और मुसलमानों में शिक्षा को बढ़ावा देने के सम्बन्ध में सिफारिश करने के लए 1913 में शिक्षा समिति में एक मुसलमान की नियुक्ति की। सरकार की और से इस घोर उपेक्षा पर, विशेष रूप से जब यह महसूस किया जाता है कि 1913 के पश्चात् भारत सरकार द्वारा कलकत्ता विश्वविद्यालय में अभिभाषण का उत्तर देते समय 'अति दयालु सम्राट' द्वारा की गयी घोषणा को पूरा करने के लिए अनुदान के रूप में बड़ी राशि दी गयी, क्रोध आना स्वाभाविक है। इस घोषणा में उन्होंने कहा था– "यह मेरी इच्छा है कि देश में विद्यालयों और कॉलेजों का जाल फैला दिया जाये। वहाँ से सच्चे व आज्ञाकारी और उपयोगी नागरिक आगे आएँगे जो अपने उद्योगों और खेती तथा जीवन के सभी काम सँभालने के योग्य होंगे।

और मेरी यह भी इच्छा है कि ज्ञान के प्रसार और उच्च विचारों, सुख–सुविधा तथा स्वास्थ्य का प्रसार करके मेरी भारतीय प्रजा के घरों को प्रज्वलित कर दिया जाये और उनकी मेहनत से रस घोल दिया जाये। शिक्षा के माध्यम से ही मेरी इच्छा पूरी हो सकती है और भारत में शिक्षा का प्रसार ही हमेशा मेरी हार्दिक इच्छा होगी।"

IV

अंग्रेजी शासन–काल में सामाजिक सुधारों की क्या स्थिति रही?

पिछली पीढ़ी के प्रमुख एवं प्रगतिशील हिन्दू राजा सर टी. माधव राव ने कहा था–

"कोई व्यक्ति जितने अधिक समय तक जीवित रहता है, देखता है और सोचता है उतना ही अधिक गहराई से वह महसूस करता है कि इस पृथ्वी पर ऐसा कोई समाज नहीं है, जो हिन्दू समाज की तुलना में राजनीतिक बुराइयों से कम और आत्मकृत अथवा आत्मस्वीकृत अथवा आत्मसृजित और इसलिए परिहार्य बुराइयों से अधिक पीड़ित हो।"

इस तुलनात्मक टिप्पणी की ओर ध्यान न भी दिया जाये तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि हिन्दू समाज में जितनी सामाजिक बुराइयाँ हैं इतनी बुराइयाँ किसी अन्य समाज में नहीं हैं। महत्त्वपूर्ण समाज सुधारकों में महादेव गोविन्द रानाडे का नाम भी श्रद्धा से लिया जाता है। उन्होंने हिन्दू समाज के एक अन्य पहलू पर बल देते हुए समान रूप से महत्त्वपूर्ण टिप्पणी की है–

"केवल औचित्य या हानि–लाभ के विचार से एक समाज को विशेष रूप से, रूढ़ि और प्रभाव से मंत्रमुग्ध हमारे जैसे समाज को सामाजिक सुधार हाथ में लेने और उन्हें निष्पादित करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकते। हमारे लोग महसूस करते हैं और गम्भीरतापूर्वक महसूस करते हैं कि हमारी कुछ सामाजिक प्रथाएँ दोषपूर्ण हैं लेकिन चूँकि यह बुराई अल्पकालिक है, वे सोचते हैं कि ईश्वरीय आदेशों की अवहेलना करना उचित नहीं है, क्योंकि इसकी सजा अधिक गम्भीर है। सच्चाई यह है कि रूढ़िवादी समाज ने अपनी जीवन–शक्ति खो दी है। यह न तो कोई सुधार कर सकता है और न ही इससे सहानुभूति रख सकता है।"

दूसरे शब्दों में सभी सामाजिक बुराइयाँ धर्म पर आधारित हैं। एक हिन्दू पुरुष या स्त्री जो कुछ भी करते हैं, वह उसे धार्मिक प्रथा समझकर करते हैं। एक हन्दू धर्मपरायण होकर खाना खाता है, धर्मपरायण होकर पानी पीता है, धर्मपरायण होकर स्नान करता है, धर्मपरायण होकर कपड़े पहनता है। वह धर्मपरायण होकर जन्म लेता है, धर्मपरायण होकर शादी करता है और धर्मपरायण होकर ही उसे जलाया जाता है। उसके सभी कार्य पवित्र होते हैं। धर्म निरपेक्षता की दृष्टि से वे कितने ही खराब हों, उसके अनुसार वे बुरे नहीं हैं, क्योंकि उसका धर्म उनकी स्वीकृति देता है। यदि कोई व्यक्ति हिन्दू को पापी कहता है तो उसका उत्तर होता है "यदि मैं पापी हूँ तो मैं अपने पाप धर्मानुसार करता हूँ।"

समाज हमेशा दकियानूसी होता है। वह तब तक नहीं बदलता जब तक कि उसे बाध्य नहीं किया जाता और तब भी बहुत धीरे–धीरे बदलता है। जब परिवर्तन शुरू होता है तो पुराने व नये में सदैव संघर्ष भी होता है और अस्तित्व के इस संघर्ष में नये को समर्थन न मिले, तो उसके उन्मूलन का खतरा रहता है। सुधार करने का निश्चित तरीका यह है कि कानून बना कर उसे समर्थन दिया जाये। कानून की सहायता के बिना किसी बुराई में कभी कोई सुधार नहीं हो सकता। कानून की आवश्यकता तब बहुत ज्यादा होती है जब बुराइयाँ, जिनमें सुधार किया जाना है, धर्म पर आधारित हों।

पर अंग्रेजी सरकार में समाज सुधार के पक्ष में कितने कानून बने हैं? अंग्रेजी सरकार का रिकॉर्ड, समाज सुधार के मामले में बहुत ही रुकावटों वाला और बहुत ही निराशाजनक है। 150 वर्षों के समय में, केवल छह सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध कानून बनाये गये हैं।

अंग्रेजों ने जो पहला सामाजिक कानून बनाया, वह बंगाल विनियम XXI, 1795 में अन्तर्विष्ट है। यह कानून बनारस प्रांत में ब्राह्मणों को 'कूरहा' स्थापित करने, उनके स्त्री सम्बन्धियों या बच्चों को जख्मी करने अथवा मारने, या धरने पर बैठने से रोकने के लिए और उस प्रांत के राजकूमर कबीले को अपनी लड़कियों को मारने से रोकने के लिए है। यह कानून इस प्रकार था–

प्रस्तावना

I. द्वेष जो उनकी मृत्यु का कारण सिद्ध होने से होता है, को बनारस प्रांत के कुछ स्थ. ानों और विशेषकर कुंठित और बुधोई परगनों में कुछ अनपढ़ लोगों ने हिन्दू धर्म के लोगों की विभीषिका और भय के कारण कानूनों की अवहेलना करने का साधन मान लिया है जिन्हें ब्राह्मणों के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने अथवा सरकारी दावों को लागू करने का काम सौंपा जाता है। ऐसी परिस्थितियों में ब्राह्मण कभी–कभी अपने शरीर को चाबुक या उस्तरे से थोड़ा–सा या ज्यादा चीर लेते हैं, जहर निगलने की धमकी देते हैं अथवा कभी –कभी जहर या कोई पाउडर जिसे वह जहर बताते हैं, वास्तव में निगल जाते हैं अथवा कूहड़ नामक एक गोल घेरा बना लेते हैं जिसमें वे लकड़ियों या अन्य ज्वलनशील चीजों का ढेर लगा लेते हैं और स्वयं असली या नकली अनशन पर बैठ जाते हैं। कूहड़ में एक बूढ़ी महिला को बिछा देते हैं और उसकी बलि देने के लिए उसमें आग लगा देते हैं। ऐसा वे तभी करते हैं जब कोई व्यक्ति उनके खिलाफ कोई कार्यवाही करने के लिए या सरकार की ओर से या उसके प्रतिनिधियों की ओर से उत्पीड़न के लिए उनके पास आता है। इसी प्रकार उचित अथवा अनुचित रूप से कोई हानि या निराशा होने की स्थिति में निर्धारित समय में राहत न मिलने पर वे ब्राह्मण कभी–कभी अपनी महिलाओं अथवा बच्चों को भी बाहर लाते हैं और सरकार की ओर से जो चपरासी या उसके प्रतिनिधि उनकी ओर आ रहे होते हैं, उनके सामने बिठा देते हैं। वे अपनी तलवारें घुमाते हैं और चपरासी के बहुत ही

निकट आने पर इन महिलाओं या बच्चों का सिर काट देने या कत्ल करने की धमकी देते हैं। ऐसे बहुत से उदाहरण हैं जिनमें गिरफ्तारी या उत्पीड़न या अन्य प्रकार से छेड़छाड़ पर नाराजगी होने के कारण, उन्होंने न केवल वास्तव में अपने शरीर को जख्मी किया, अपितु अपनी तलवारों से अपने परिवारों की महिलाओं या अपनी कन्याओं या बूढ़ी महिलाओं को मौत के घाट उतार दिया। ऐसा नहीं है कि महिलाओं को हमेशा उनकी इच्छा के विरुद्ध शिकार बनाया जाता हो, इसके प्रतिकूल जिन द्वेषों में उनका पालन-पोषण किया जाता है, उसके आधार पर यह मान लिया जाता है कि भ्रांतिपूर्ण प्रतिष्ठा के या निराशा और बदले के उद्देश्यों से खुशी से आत्मोत्सर्ग करना उनके लिए आवश्यक है और यह विश्वास किया जाता है कि मृत्यु के पश्चात वे उन लोगों के उत्पीड़क बन जाएँगे जो उनकी बलि देते हैं। ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर ये ब्राह्मण किसी दावे या प्रत्याशा को पूरा करने के उद्देश्य से जैसे ऋण की वसूली या कुछ पुण्यार्थ दान की लूट-खसोट के प्रयोजनार्थ बार-बार या तो कोई आक्रामक हथियार लेकर या विष लेकर उसी कस्बे या गाँव के दूसरे निवासी के द्वार पर जाते हैं और वहाँ ऐसे बैठ जाते हैं जैसे धरना दे रहे हों और इस विषय पर प्राप्त राय के अनुसार यह समझा जाता है कि वे उस स्थान पर तब तक अनशन पर बैठे रहते हैं, जब तक कि उनका उद्देश्य पूरा नहीं होता। जिस व्यक्ति के द्वार पर ये ब्राह्मण धरना देते हैं, उसके लिए भी यह समान रूप से आवश्यक है कि जब तक उन ब्राह्मणों की सन्तुष्टि नहीं हो जाती, तब तक वे आहार ग्रहण ना करें। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उसके घर से आने या जाने पर भी प्राय: पाबन्दी लगा दी जाती है, क्योंकि प्राप्त राय के अनुसार आने या जाने का प्रयास नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा किया गया तो ब्राह्मण हथियार से अपने आप को जख्मी कर सकता है या विष अथवा पाउडर जो वह अपने साथ लाया होता है, निगल सकता है। तथापि ब्राह्मण ऐसा नहीं करते और उन्हें न्यायालयों के अधिकारियों द्वारा धरने से हटा दिया जाता है और इसका कोई बुरा प्रभाव नहीं होता। अनुभव के आधार पर यह पाया गया है कि वे सरकार की अभिरक्षा में लिए जाने के पश्चात कभी आत्महत्या करने या अपने आप को या अन्य लोगों को जख्मी करने का प्रयास नहीं करते। इन कुप्रथाओं को बन्द करने तथा अपनी बालिकाओं को आहार न देकर उनको मरने देने की क्रूर रूढ़ि के पुनर्आगमन को रोकने के लिए जो जौनपुर के निकट प्रांत की सीमाओं पर रहने वाले राजकूमरों में कुछ वर्ष पूर्व तक प्राय: पाई जाती थी, अपनाए जाने वाले नियमों तथा उपायों के रूपांतरणों के साथ, एतद्द्वारा एक विनियम के रूप में अधिनियमित किया जाता है।

ब्राह्मणों द्वारा कूहड़ बनाया जाना या अपनी स्त्रियों अथवा बच्चों को विकलांग करने, घायल करने या उनकी हत्या करने की तैयारी करना

II. किसी ब्राह्मण या ब्राह्मणों के विरुद्ध कूहड़ बनाए जाने या अपनी महिलाओं या बच्चों या किसी अन्य या उनमें से कसी को विकलांग करने, घायल करने या कत्ल करने

की तैयारी किये जाने के बारे में लिखित सूचना नगर के दंडाधिकारी या जिला अदालत को इस विनियम की प्रस्तावना में वर्णित ढंग से या इससे प्राय: मिलते-जुलते किसी अन्य कारण से या तरीके से किसी असन्तोष के कारण से दी जाती है, तो सूचना की सच्चाई के बारे में शपथ लिये जाने पर दंडाधिकारी तुरन्त उक्त ब्राह्मण या ब्राह्मणों को लिखित सूचना फारसी भाषा और लिपि में तथा हिन्दुस्तानी भाषा और नागरी लिपि में भेजेगा और उसकी सरकारी मुहर के अन्तर्गत यह सूचना उस अथवा उन ब्राह्मणों को उनके ऐसे सम्बन्धियों, दोस्तों या परिचितों के माध्यम से तामील की जाएगी, जो दंडाधिकारी उपयुक्त समझे और दंडाधिकारी इस प्रयोजनार्थ उनकी सेवाएँ प्राप्त कर सकेगा। उक्त ब्राह्मण या ब्राह्मणों के रिश्तेदारों, मित्रों या परिचितों के अभाव में दंडाधिकारी उसी धर्म के एक पत्रवाहक से सूचना की तामील कराएगा और इस सूचना से उक्त ब्राह्मण या ब्राह्मणों के कूहड़ तथा उसमें रखी गयी महिलाओं तथा लोगों को हटाने की या उन महिलाओं या बच्चों को घायल करने या उनकी हत्या रोकने की अपेक्षा की जाएगी। चूँकि इन दोनों तथ्यों या एक का आरोप सूचना में लगाया जाएगा, अत: इस सूचना में सम्बन्धित ब्राह्मणों या ब्राह्मणों को यह ठोस तथा उत्साहवर्धक आश्वासन भी दिया जाएगा कि यदि वे कूहड़ को और व्यक्ति या व्यक्तियों को हटा कर या महिलाओं और बच्चों को घायल न करके अथवा उनकी हत्या न करके सूचना की शर्तों का पालन करेंगे और तत्पश्चात् व्यक्तिगत रूप से या वकील के द्वारा जैसा वे उपयुक्त समझें, नगर या जिला अदालत से प्रतिकार करेंगे, तो विवाद के सम्बन्ध में उचित जाँच की जाएगी जिसके कारण निषिद्ध कार्य करने के लिए ब्राह्मण/ब्राह्मणों को बाध्य होना पड़ा। लेकिन यदि उक्त ब्राह्मण सूचना में उल्लिखित शर्तों का पालन नहीं करते तो इसके बारे में एक लिखित विवरण तैयार किया जाएगा, जिसका सत्यापन इसकी तामील करने वाले व्यक्ति/व्यक्तियों द्वारा किया जाएगा और तत्पश्चात् दंडाधिकारी अपनी सरकारी मोहर और हस्ताक्षर से उक्त ब्राह्मण/ब्राह्मणों की गिरफ्तारी के लिए एक वारंट जारी करेगा, जिसमें उसे/उन्हें बताया जाएगा कि किस आरोप तथा दुराग्रह के कारण उनके विरुद्ध यह कार्यवाही की जा रही है। ऐसे वारंट की तामील का काम मुस्लिम धर्म के पत्रवाहक को सौंपा जाएगा और किसी हिन्दू को इस काम के लिए नहीं भेजा जाएगा। जिस अथवा जिन ब्राह्मणों को वारंट जारी किया जाता है उसको/उनको दंडाधिकारी के समक्ष लाए जाने पर उस/उनके विरुद्ध 1793 के विनियम 9 की धारा 5 में विनिर्दिष्ट रीति से कार्यवाही की जाएगी और यदि पूर्ववर्ती जाँच से जो उक्त धारा के अधीन उसके द्वारा किये जाने की अपेक्षा की जाती है, दंडाधिकारी को यह लगेगा कि जो अपराध करने का आरोप लगाया गया है या लगाये गये हैं (अर्थात कूहड़ बनाना या महिलाओं अथवा बच्चों को घायल करना या उनकी हत्या करना), वे अपराध वास्तव में किये गये और मुख्य अपराधी अथवा सह-अपराधी के रूप में कैदी या कैदियों पर आशंका करने का आधार है तो दंडाधिकारी उसे/उन्हें जेल भेजेगा या जमानत

पर रिहा करेगा और उस अथवा उनके मामले पर सर्किट कोर्ट के अगले सत्र में विचार किया जाएगा और मुखबिर या फरियादी तथा गवाहों को पूर्वोक्त धारा में उल्लिखित तरीके से विचारण के समय उपस्थित होने के लिए बाध्य करेगा।

पूर्वोक्त अपराधों के विचारण की प्रक्रिया और उनके लिए दिया जाने वाला दंड

III. उपरोक्त अपराध जिस ब्राह्मण या जिन ब्राह्मणों पर लगाए जाएँगे उनका अन्य अपराधों के सम्बन्ध में 1793 के विनियम 9 और 1795 के विनियम 16 में विनिर्दिष्ट रीति से सर्किट कोर्ट विचारण करेगी, लेकिन चूँकि इस स्थानीय प्रकृति के अपराधों पर मुस्लिम कानून पर्याप्त रूप से लागू नहीं होता, एतद्द्वारा यह प्रावधान किया जाता है और यह आदेश दिया जाता है कि जहाँ सर्किट कोर्ट की राय में कूहड़ बनाने अथवा महिलाओं या बच्चों को घायल करने या उनकी हत्या करने के लिए मुख्य अपराधी होने का आरोप साबित हो जाएगा, वहाँ उक्त न्यायालय, कैदी को उसकी वार्षिक आय की राशि के बराबर जुर्माने का भुगतान करने का दंड देगा, जिसका अनुमान वे इसके बारे में उपलब्ध जानकारी के आधार पर लगाएँगे और यदि सबूत से न्यायालय का यह समाधान होता है कि कैदी एक सहअपराधी के रूप में दोषी है, तो उसको, उसकी अनुमानित वार्षिक आय के एक चौथाई के बराबर जुर्माने का भुगतान करने का दंड दिया जाएगा और वे तब तक जेल में रहेंगे जब तक कि जुर्माने की राशि का भुगतान नहीं कर दिया जाता था, या जब तक वे अपनी रिहाई की तारीख से 6 महीने के भीतर जुर्माने का भुगतान करने के लिए सर्किट कोर्ट को, अथवा उक्त कोर्ट के समापन के पश्चात् दंडाधिकारी को पूरी तथा पर्याप्त जमानत नहीं देते और ऐसे व्यक्ति अपनी रिहाई से पूर्व कंगाल होने पर या स्वयं पर लगे जुर्माने के भुगतान की जमानत देने पर सर्किट कोर्ट में या उसकी अनुपस्थिति में दंडाधिकारी को एक या अधिक विश्वसनीय व्यक्तियों से इस आशय की जमानत देते कि वह भविष्य में इस प्रकार का अपराध नहीं करेगा।

ऐसे जुर्माने कम करने का अधिकार निजामुत अदौलत को दिया गया

IV. धारा 3 के अधीन सर्किट कोर्ट द्वारा दिये गये सभी दंड बीच में रोके बिना दस दिन के भीतर निजामुत अदौलत को भेजे जाएँगे और यह अदालत लगाये गये जुर्माने में ऐसी कमी कर सकेगी या इतना जुर्माना वापस कर सकेगी जो वह उचित समझे, लेकिन जब तक निजामुत अदौलत द्वारा आदेश जारी नहीं किये जाते, तब तक सर्किट कोर्ट के दंड को पूरी मान्यता दी जाएगी और तदनुसार उसे प्रभावी किया जाएगा।

उन फरार होने वाले ब्राह्मणों के लिए जुर्माना, जिनकी गिरफ्तारी के लिए दंडाधिकारी ने धारा-2 के अधीन वारंट जारी किया होगा।

V. यदि कोई या कई ब्राह्मण जिनके विरुद्ध नगर या जिला दंडाधिकारी धारा 2 में विनिर्दिष्ट वारंट जारी करता है, वारंट की तामील करने के लिए प्रतिनियुक्त पत्रवाहक

की आज्ञा का पालन नहीं करता/करते या बाधा डालते या डलवाते हैं या उनके द्वारा अभिरक्षा में लिये जाने के पश्चात निकल भागते हैं या फरार हो जाते हैं या अपने आप को किसी मकान या इमारत में बन्द कर लेते हैं या किसी जगह चले जाते हैं ताकि वारंट की उन पर तामील न की जा सके, तो दंडाधिकारी जिलाधीश को एक हुकमनामा जारी करेगा, जिसके अनुसार उसे निकटतम तहसीलदार को उस ब्राह्मण/उन ब्राह्मणों की भूसम्पत्ति जब्त करने के आदेश देने होंगे जो उस/उनके पास जायदाद रेहन या खेत या लखराजे के रूप में हो। यह भूसम्पत्ति तब तक जब्त रहेगी जब तक कि वह/वे आत्मसमर्पण नहीं करते और जब्ती के दौरान इस भूसम्पत्ति से जो वसूली होगी उससे सरकार को देय राजस्व की कटौती करने के बाद बाकी राशि का हिसाब रखा जाएगा और यह राशि उस व्यक्ति को दी जाएगी जिसके विरुद्ध या जिसके कारण या जिसके प्रति रोष के कारण कूहड़ मूलतः बनाया गया था या उस महिला/उन महिलाओं या उस बच्चे या उन बच्चों को दी जाएगी, जिनको घायल या कत्ल किया जाना था और कूहड़ बनाने वाले ब्राह्मण/ब्राह्मणों, अपनी महिलाओं या बच्चों या उनमें से किसी को घायल करने या उनकी हत्या करने की तैयारी करने वाले ब्राह्मणों के आत्मसमर्पण या गिरफ्तारी के बाद उसकी/उनकी भूसम्पत्ति मुक्त कर दी जाएगी। लेकिन उसके/उनके मूल अपराध/अपराधों के लिए धारा 3 और 4 में निर्विदिष्ट तरीके से उनके विरुद्ध मुकदमा चलाया जाएगा।

राजस्व विभाग द्वारा कोई कार्यवाही किये जाने पर ब्राह्मण कूहड़ बनाते हैं अथवा महिलाओं या बच्चों को घायल करने या उनकी हत्या करते हैं तो जिलाधीश, दंडाधिकारी को आवेदन करेगा।

VI. यदि 1795 के विनियम 6 के अन्तर्गत प्राधिकृत तरीके से स्थानीय तहसीलदार या बनारस के जिलाधीश द्वारा राजस्व की बकाया राशि की वसूली के लिए जारी किये गये किसी दस्तक या रिट की तामील का विरोध करने के उद्देश्य से किसी ब्राह्मण/ब्राह्मणों द्वारा कूहड़ बनाया जाता है या अपनी महिलाओं अथवा बच्चों या उनमें से किसी को घायल करने या उनकी हत्या करने की तैयारी की जाती है, तो ऐसी स्थिति में यदि तहसीलदार के दस्तक का विरोध किया जाता है, तो वह इसकी सूचना मिलने पर इन को लागू करने पर जोर नहीं देगा, अपितु वह मामले की जानकारी तुरन्त जिलाधीश को देगा जिसके साथ दस्तक की तामील करने के लिए प्रतिनियुक्त पत्रवाहक को लिखित सबूत भेजेगा। इस जानकारी के प्राप्त होने पर या उसकी अपनी ओर से की जाने वाली कार्यवाही का इसी प्रकार विरोध होने पर जिलाधीश सरकारी वकील के माध्यम से ब्राह्मण/ब्राह्मणों से बकाया राशि तथा उसके द्वारा स्वयं या अपनी तहसील द्वारा इसे वसूल करने के लिए की गयी कार्यवाही की परिस्थितियों के बारे में न्यायाधीश तथा नगर या जिला के दंडाधि कारी से, जिसके क्षेत्राधिकार में वह भूसम्पत्ति होगी, जिसके कारण राशि बकाया है,

अभ्यावेदन करेगा और तहसीलदार के या जिलाधीश के दस्तक से प्रतिनियुक्त पत्रवाहक या किसी अन्य विश्वसनीय व्यक्ति/व्यक्तियों के न्यायालय में उपस्थित होने पर और उन. के द्वारा शपथ लेकर यह कहने पर कि ब्राह्मण/ब्राह्मणों द्वारा कूहड़ बनाए जाने अथवा महिलाओं और बच्चों या उनमें से मिली किसी को घायल किये जाने या हत्या किये जाने, जो भी स्थिति होगी, के बारे में जिलाधीश ने अपने अभ्यावेदन में जो परिस्थितियाँ बताई हैं वे सही हैं, तो दंडाधिकारी ऐसे ब्राह्मणों को अपनी सरकारी मुहर के अधीन फारसी भाषा और लिपि में तथा हिन्दुस्तानी भाषा और नागरी लिपि में एक लिखित सूचना जारी करेगा जो उक्त ब्राह्मण/ब्राह्मणों के ऐसे सम्बन्धियों, मित्रों या परिचितों द्वारा उस/उनको तामील की जाएगी जिन्हें दंडाधिकारी उचित समझें और वह इस प्रयोजनार्थ उनकी सेवाएँ प्राप्त कर सकेगा और उक्त ब्राह्मण/ब्राह्मणों के ऐसे सम्बन्धियों, मित्रों या परिचितों के अभाव में दंडाधिकारी उसी धर्म के एक पत्रवाहक द्वारा उस सूचना की तामील करवाएगा, जिसके अनुसार उक्त ब्राह्मण/ब्राह्मणों को कूहड़ तथा इसमें रखी महिलाओं तथा अन्य लोगों को हटाना होगा अथवा महिलाओं या बच्चों को घायल करने या उनकी हत्या करने की तैयारी को रोकना होगा। इसी प्रकार उससे/उनसे माँगी गयी लगान राजस्व की बकाया राशि का उन्हें भुगतान करना होगा या नगर अथवा जिला अदालत में उपस्थित होकर जिस राशि का वहाँ वे भुगतान नहीं करना चाहते हैं, उसके बारे में जमानत देनी होगी और यह बताना होगा कि वह/वे किन कारणों से भुगतान नहीं करना चाहते हैं। तत्पश्चात मामले के गुणदोषों पर विचार किया जाएगा और 1795 के विनियम 6 में उल्लिखित सिद्धान्तों के अनुसार इसका फैसला किया जाएगा, जैसा कि राजस्व की अन्य विवादास्पद माँगों और लेखों के मामले में किया जाता है। उक्त सूचना में सम्बन्धित ब्राह्मण/ब्राह्मणों को इस आशय का ठोस और उत्साहवर्धक आश्वासन भी दिया जाएगा कि यदि वे सूचना में दिये गये आदेशों का पालन करते हुए कूहड़ तथा उसमें रखे व्यक्तियों को हटा देते हैं अथवा महिलाओं और बच्चों को घायल करने या उनकी हत्या करने की तैयारी को रोक देते हैं और माँगी गयी राजस्व की बकाया राशि या तो अदा कर देते हैं या व्यक्तिगत रूप से अथवा वकील के माध्यम से नगर या जिला न्यायालय के समक्ष प्रतिकार करते हैं और बकाया राशि की जमानत देते हैं, तो माँग के औचित्य के विरुद्ध वे जो तर्क देंगे उनकी समुचित जाँच की जाएगी। यदि सूचना जारी करने पर उक्त ब्राह्मण इसकी अपेक्षाओं का पालन नहीं करेंगे, तो इस आशय का एक लिखित विवरण इसकी तामील से सम्बन्धित व्यक्ति/व्यक्तियों द्वारा किया जाएगा तथा सत्यापित किया जाएगा और दंडाधि कारी तुरन्त अपनी सरकारी मुहर और हस्ताक्षरों से ऐसे ब्राह्मण/ब्राह्मणों की गिरफ्तारी के लिए वारंट जारी करेगा, जिसमें उस अपराध, दुराचार तथा बकाया राशि का उल्लेख किया जाएगा, जिसका उस/उन पर आरोप है, और जैसा कि धारा 2 में निर्देश दिया गया है, वारंट की तामील मुस्लिम व्यक्ति के द्वारा की जाएगी। यदि ब्राह्मण इसकी तामील

करने के लिए प्रतिनियुक्त पत्रवाहक की आज्ञा का पालन करने से इंकार करता है/करते हैं या विरोध करते अथवा करवाते हैं या उनके द्वारा अभिरक्षा में लिए जाने के पश्चात् बच कर निकल जाते हैं अथवा फरार हो जाते हैं या अपने आप को किसी मकान या इमारत में बन्द कर लेते हैं या किसी जगह चले जाते हैं, ताकि उस/उन पर वारंट की तामील न की जा सके तो मजिस्ट्रेट इस आशय की जानकारी मिलने पर जिलाधीश को एक हुकमनामा जारी करेगा, जिसके अनुसार उसे निकटतम तहसीलदार को उस ब्राह्मण/उन ब्राह्मणों की भूसम्पत्ति जब्त करने के आदेश देने होंगे जो उस/उनके पास जायदाद, रहन या खेत या लखराजे के रूप में हो। यह भूसम्पत्ति तब तक जब्त रहेगी और इसका लाभ सरकार को होगा जब तक कि बकाया राशि उस भूसम्पत्ति से होने वाले मुनाफे से चुकता नहीं हो जाती या उक्त ब्राह्मण अपने अन्य साधनों से उसे पूरा नहीं कर देते और जब तक उक्त ब्राह्मण न्यायालय के समक्ष लाये नहीं जाते या स्वयं उपस्थित नहीं होते तथा कूहड़ बनाने अथवा अपनी महिलाओं या बच्चों को घायल करने या उनका कत्ल करने या उनमें से किसी एक की तैयारी करने के आरोप में मुख्य अपराधियों या सहअपराधियों के रूप में उन पर उसी रीति से मुकदमा नहीं चलाया जाता जैसा कि धारा 2, 3 और 4 में प्रावधान है।

कूहड़ बनाने वाले ब्राह्मणों तथा इसे प्रज्वलित करने वाले व्यक्तियों पर किसी व्यक्ति या व्यक्तियों की जान की हानि होने से हत्या के आरोप में मुकदमा चलाया जाएगा।

VII. यदि कोई एक ब्राह्मण या अनेक ब्राह्मण सरकार या उसके अधिकारियों या सेवकों के विरुद्ध सही या निराधार असन्तोष या सन्त्रास के कारण एक कूहड़ बनाता है, जिसमें इसके बनने से इसके हटाए जाने तक की अवधि के दौरान एक या अधिक व्यक्ति जला कर मार दिये जाते हैं या अन्यथा किसी व्यक्ति द्वारा ऐसे कूहड़ को आग लगा दिये जाने के कारण अपनी जिन्दगी खो बैठते हैं तो उस कूहड़ को बनवाने वाला या वाले ब्राह्मणों पर हत्या का आरोप लगाया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त उस व्यक्ति या उन व्यक्तियों पर भी हत्या का आरोप लगाया जाएगा, जिन्हें ढेर या विचाराधीन दाह्य वस्तुओं को आग लगाने या आग लगाने में सहायता करने के काम में लगाया गया होगा और तथ्य साबित होने तथा सर्किट कोर्ट की तसल्ली होने पर कूहड़ को आग लगाने वाले ब्राह्मण/ब्राह्मणों तथा व्यक्ति/व्यक्तियों को उक्त न्यायालय में मुकदमा चलाए जाने पर उसी रीति से मृत्यु दंड की सजा दी जाएगी, जैसी कि उन्होंने मुस्लिम कानून के सिद्धान्तों के अनुसार कत्ल और या पहले सोच समझकर हत्या की हो और दोषी पाए गये हों। ऐसे मामले की जानकारी यथासम्भव अधिक से अधिक लोगों तक पहुँचाने के उद्देश्य से (वह मुसलमान विधि अधिकारियों के भविष्य के अनुरूप हो या नहीं) ऐसे मामले में दोषी पाए ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणों को सजा देने का आदेश औपचारिक रूप

से सर्किट कोर्ट द्वारा दिया जाएगा, लेकिन जिन व्यक्तियों को सजा दी जाएगी, उन्हें यह स्पष्ट करना होगा जैसा कि एतद्द्वारा स्पष्ट रूप से यह भी प्रावधान किया गया है कि ऐसे सभी विचारण और दिये गये दंड सर्किट कोर्ट द्वारा (उसी रीति से जैसा कि 1793 के विनियम 9 की धारा 47 विनिर्दिष्ट है) निजामत अदालत के सामने रखे जाएँगे और इस धारा के अन्तर्गत दंडित व्यक्ति निजामत अदालत का अन्तिम निर्णय आने तक जेल में रहेंगे। यदि निजामत अदालत, दंड का अनुमोदन करती है तो वह सम्बन्धित ब्राह्मण/ब्राह्मणों को कलकत्ता भेजने का आदेश देगी, जिसे/जिन्हें 1795 के विनियम 16 की धारा 23 के अनुसार वहाँ से आजीवन देश निकाला दे दिया जाएगा, जैसाकि बनारस प्रांत में ब्राह्मणों द्वारा हत्या के कानूनी दंड को कम करने का इस विनियम में प्रावधान है। यदि निजामत अदालत समझती है कि कूहड़ बनवाने वाले ब्राह्मण/ब्राह्मणों को अथवा कूहड़ को प्रज्वलित करने के काम में लगे या सहायता करने वाले व्यक्ति/व्यक्तियों को सर्किट कोर्ट के आदेशों के अनुसार दंड देना जरूरी नहीं है, तो निजामत अदालत ऐसे मामले/मामलों को परिषद् के गवर्नर जनरल को भेजेगी और दंड माफ करने या दंड कम करने की, जो भी उक्त न्यायालय उचित समझे सिफारिश करेगी।

महिलाओं तथा बच्चों को घायल करने वाले ब्राह्मणों को दंड

VIII. यदि एक ब्राह्मण या कई ब्राह्मण इस विनियम की प्रस्तावना तथा बाद में वर्णित परिस्थितियों में और रीति में अथवा इससे प्रायः मिलते-जुलते किसी अन्य आक्रामक हथियार से या किसी अन्य प्रकार से अपनी महिलाओं या बच्चों को या दूसरों की महिलाओं या बच्चों को या इनसे किसी को इसलिए घायल करेगा कि उस/उन को आमिलों, तहसीलदारों अथवा राजस्व या न्याय विभाग के अन्य अधिकारियों या कर्मचारियों द्वारा पहुँचाई गयी या अपनी महिलाओं या बच्चों या किसी अन्य महिला या बच्चे को इसलिए घायल करेंगे कि उनके किसी व्यक्ति के साथ मतभेद है, तो उसे अथवा उन्हें ऐसे कार्य अथवा कार्य करने के लिए सर्किट अदालत निर्वासित कर दंड देगी, बशर्ते धारा-7 में उल्लिखित मामलों की तरह ऐसा मामला अदालत को भेजे जाने पर निजामत अदालत दंड कम नहीं कर देती या माफ नहीं कर देती।

महिलाओं अथवा बच्चों की हत्या करने वालो ब्राह्मणों के लिए दंड

IX. यदि कोई एक ब्राह्मण या कई ब्राह्मण इस विनियम की प्रस्तावना तथा बाद की धाराओं में वर्णित हालात में और रीति से अथवा इससे प्रायः मिलते-जुलते हालात में और रीति से तलवार या किसी अन्य आक्रामक हथियार से या अन्य प्रकार से अपनी महिलाओं या बच्चों को या दूसरों की महिलाओं या बच्चों को या इनमें से किसी को इसलिए कत्ल करेगा/करेंगे कि उस/उनको आमिलों, तहसीलदारों अथवा राजस्व या न्याय विभाग के अन्य अधिकारियों या कर्मचारियों द्वारा चोट पहुँचाई गयी या अपनी महिलाओं या बच्चों या किसी

अन्य महिला या बच्चे को इसलिए कत्ल करेंगे कि उसके/उनके किसी व्यक्ति के साथ मतभेद हैं तो उस पर/उन पर ऐसी मानव हत्या के लिए मुकदमा चलाया जाएगा और तथ्य साबित होने पर सर्किट अदालत उन्हें मृत्यु दंड देगी बशर्ते कि धारा-7 में उल्लिखित मामलों की तरह ऐसा मामला निजामत अदालत को भेजे जाने पर निजामत अदालत दंड कम नहीं कर देती या माफ नहीं कर देती। यदि किसी ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणों के परिवार इस धारा के अन्तर्गत हत्या के दोषी पाए जाते हैं, तो उन्हें 17 जून, 1789 के परिषद् के गवर्नर जनरल के आदेश के अनुसार तथा इसके अनुसरण में उसी वर्ष 7 जुलाई को बनारस से रेजीडेंसी द्वारा किये गये प्रकाशन के अनुसार बनारस प्रांत और कम्पनी के राज्यक्षेत्र से निष्कासित कर दिया जाएगा। उसकी भूसम्पत्ति जब्त कर ली जाएगी और ऐसे ढंग से बेच दी जाएगी जो सरकार उचित समझे और तदनुसार सर्किट कोर्ट इस आदेश को इस धारा के अन्तर्गत हत्या के लिए ब्राह्मणों को दिये जाने वाले सभी दंडों में जोड़ देगी और साथ ही ऐसे दंड और आदेश की सूचना निजामत अदालत को देगी। सर्किट कोर्ट निजामत अदालत को ऐसे ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणों के परिवार के सदस्यों की यथासम्भव सही संख्या, लिंग, आयु का ब्योरा भी देगी तथा यह राय भी देगी कि ऐसे ब्राह्मणों अथवा ब्राह्मण के परिवारों को निष्कासन की सजा देना अथवा उनकी भू-सम्पत्ति की जब्ती के आदेश की पुष्टि करना, सजा कम करना या रद्द करना कहाँ तक उचित या अनुचित होगा। निजामत अदालत इस दंड या आदेश पर और सर्किट कोर्ट की राय पर विचार करने के बाद या तो दंड की पूर्णतया पुष्टि करेगी, या परिषद् के गवर्नर जनरल से उक्त दंड तथा आदेश में ऐसी कमी करने की सिफारिश करेगी, जो उसे उचित प्रतीत हो, और सभी मामलों में ऐसे ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणों तथा उसके या उनके परिवार की भू-सम्पत्ति की जब्ती की पुष्टि निजामत अदालत द्वारा की जाएगी और उक्त न्यायालय इसकी सलाह देगा। जहाँ तक भू-सम्पत्ति की जब्ती का सम्बन्ध है, ऐसी सजा नहीं दी जाएगी जब तक कि परिषद् का गवर्नर जनरल इसकी स्वीकृति नहीं देता और निर्देश नहीं देता कि इस तरह जब्त की गयी भू-सम्पत्ति का निपटारा किस तरह किया जाएगा।

अपराधियों की पारिवारिक भूमि को जब्त करने की सीमा

X. धारा 9 के अन्तर्गत निजामत अदालत को सर्किट कोर्ट द्वारा दी गयी सजा को कम करने के बारे में परिषद् के गवर्नर जनरल द्वारा सिफारिश करने की जो विवेकाधीन शक्ति दी गयी है, उसका प्रयोग करते समय इस नियम का पालन किया जाएगा कि जब कभी परिषद् का गवर्नर जनरल, हत्या करने वाले पक्षकार अथवा पक्षकारों को या उसके अथवा उसके परिवार/परिवारों को देश निकाला देना उचित समझता है, तो ऐसे मामलों में भू-सम्पत्ति जब्त नहीं की जाएगी, अपितु वह सम्पत्ति परिवार के उन सदस्यों की होगी तथा उनके कब्जे में रहेगी, जिनको देश निकाला नहीं दिया जाएगा।

ब्राह्मणों के धरने पर बैठने के सम्बन्ध में विनियम

XI. (पहला) : परिषद् के गवर्नर जनरल के दिनांक 2 नवंबर, 1792, के आदेश तथा इसके परिणामस्वरूप उसी वर्ष 22 दिसंबर को बनारस में जारी किये गये प्रकाशन तथा परिषद् के गवर्नर जनरल के आदेश के अनुसार धरना को रोकने के लिए तथा ऐसा अपराध करने वाले ब्राह्मणों पर मुकदमा चलाने और उन्हें सजा देने के लिए निम्नलिखित नियम बनाए जाते हैं–

दंडाधिकारी धरने पर बैठने वाले ब्राह्मणों की गिरफ्तारी करवाएगा

(दूसरा) : धरने पर बैठे किसी ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणों के विरुद्ध दंडाधिकारी के पास लिखित रूप में कोई शिकायत आने पर यह शपथ लेगा कि जो जानकारी दी गयी है वह सही है और उसके बाद अपनी मुहर और हस्ताक्षर से उन लोगों की गिरफ्तारी के वारंट जारी करेगा, जिनके विरुद्ध शिकायत की गयी है और उस कैदी अथवा कैदियों को दंडाधिकारी के समक्ष लाये जाने पर वह आरोप की परिस्थितियों का पता लगाएगा और कैदी अथवा कैदियों की शिकायत करने वाले व्यक्ति/ऐसे अन्य व्यक्तियों की जाँच करेगा, जिनको कथित अपराध की कोई जानकारी होगी। इन लोगों का बयान लेते समय उनसे शपथ ली जाएगी और उनके बयान लिखे जाएँगे। इस जाँच के बाद यदि दंडाधि कारी को लगेगा कि उस कैदी अथवा कैदियों के विरुद्ध जो अपराध करने का आरोप था, वह अपराध हुआ ही नहीं है या उस अपराध में उसका या उनका हाथ होने की आशंका करने का कोई आधार नहीं है, तो दंडाधिकारी ऐसे ब्राह्मण अथवा ब्राह्मणों की तुरन्त रिहाई करवाएगा और 1793 के विनियम 9 की धारा 17 में विनिर्दिष्ट रीति से सर्किट कोर्ट की जानकारी के लिए इसके कारण दर्ज करेगा। इसके प्रतिकूल यदि दंडाधिकारी को यह लगेगा कि अपराध वास्तव में हुआ और अपराध करने या करवाने में हाथ होने का उस कैदी अथवा कैदियों में सन्देह करने का आधार है, तो दंडाधिकारी उसे अथवा उन्हें कैद में डालेगा या जमानत पर रिहा करेगा (जैसा भी वह उचित समझे) और सर्किट कोर्ट के अगले सत्र में उसके अथवा उनके मुकदमे की सुनवाई करेगा, शिकायतकर्ता को उपस्थित होने तथा अभियोग चलाने के आदेश देगा और गवाहों को 1793 के विनियम 9 की धारा 5 में अपेक्षित विधि से उपस्थित होने तथा गवाही देने के आदेश देगा। इस मामले पर विचार, सर्किट कोर्ट के समक्ष उक्त विनियम तथा 1795 के विनियम 16 में विनिर्दिष्ट रीति से होगा। गवाही खत्म होने के बाद मामला लिखित रूप में व्यवस्था देने के लिए अथवा यह बताने के लिए कि क्या शास्त्रों के अनुसार गवाही में दिये गये तथ्यों से यह साबित हो जाता है कि कैदी धरने पर बैठा था या बैठे थे और यदि ऐसी व्यवस्था हाँ में होती है तो सर्किट कोर्ट उस अपराधी अथवा उन अपराधियों को बनारस प्रांत से निष्कासित करने की सजा देगी और उस कैदी अथवा उन कैदियों

के वे सभी अधिकार अथवा दावे समाप्त हो जाएँगे, जिनको प्राप्त करने के लिए अपराध किया गया। तथापि यह सजा तब तक नहीं दी जाएगी जब तक कि सर्किट कोर्ट इसकी सूचना निजामत अदालत को नहीं दे देती और इस बात की पुष्टि नहीं हो जाती कि पूरी सजा दी जाये या इस आशय के निर्देश नहीं दे दिये जाते कि सजा कम करके केवल प्रांत से निष्कासित करने की सजा दी जाये या उस सम्पत्ति पर कैदी अथवा कैदियों के अधिकार अथवा दावे को खत्म करने की सजा दी जाये जिसके लिए वह कैदी अथवा वे कैदी धरने पर बैठे। उक्त कोर्ट जो भी उचित समझे, कर सकेगी।

जब धरना देने की सभी कानूनी आवश्यकताएँ पूरी नहीं होंगी तब सर्किट अदालत किस प्रकार कार्य करेगी, यद्यपि अपराध वास्तव में हुआ हो

XII. यदि धारा 2 के अधीन पंडित यह व्यवस्था कर देता है कि गवाही के दौरान शपथ लेकर जो परिस्थितियाँ बयान की गयी हैं उनके आधार पर धरने देने का अपराध नहीं बनता, लेकिन सर्किट कोर्ट अपने समक्ष उपस्थित साक्ष्य के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि कैदी ने वास्तव में धरना दिया है। यदि वे सभी परिस्थितियाँ मौजूद नहीं हैं, जो एक कृत्य को हिन्दू ग्रन्थों के अनुसार धरना की संज्ञा देने के लिए कानूनी रूप से आवश्यक है, ऐसी परिस्थितियों में परिषद के गवर्नर जनरल के 7 नवंबर, 1974 के आदेश के अनुसार उक्त न्यायालय कैदी या कैदियों से इस आशय का मुचलका या वादा लेगी कि यदि ऐसा कैदी या ऐसे कैदी, फिर किसी धरने पर बैठेंगे या धरने से मिलता-जुलता कोई अन्य काम करेंगे तो सर्किट अदालत में उन पर मुकदमा चलाए जाने की स्थिति में उक्त अदालत में मुकदमे पर विचार के समय उपस्थित अदालत के न्यायाधीश समझेंगे कि यह काम धरना है या धरने के बराबर है और परिषद के गवर्नर जनरल के आदेश के अनुसार उसे/उन्हें प्रांत से निष्कासित कर दिया जाएगा और विचाराधीन सम्पत्ति पर उनका अधिकार अथवा दावा समाप्त कर दिया जाएगा।

अपनी बालिकाओं को छोड़ देने अथवा पोषाहार के अभाव में उन्हें मरने देने की स्थिति में राजकूमरों पर कैसे मुकदमा चलाया जाएगा

XIII. दिसंबर 1789 में राजकूमरों की जनजाति ने वादा किया था कि वे अपनी बा. लिकाओं को भूख से मारने की प्रथा बन्द कर देंगे। तदनुसार, अब यह कानून बनाया जाता है कि नगर और जिला अदालतों तथा बनारस में सर्किट कोर्ट की स्थापना होने और इनके खुलने के पश्चात यदि यह सिद्ध हो जाता है कि किसी राजकूमर ने जानबूझ कर पोषाहार ने देकर अपनी बालिका की मृत्यु होने दी है, तो इस विनियम की प्रस्तावना के अनुसार अथवा किसी अन्य रीति से दंडाधिकारी शपथ पत्र पर उनके बारे में जानकारी मिलने अथवा कोई अन्य जानकारी या सबूत मिलने पर जिसे वह पर्याप्त समझे, निर्धारित ढंग से ऐसे राजकूमर की गिरफ्तारी करवा कर 1793 के विनियम 9 की धारा 5 के अनुसार जाँच के

आदेश देगा। यदि दंडाधिकारी को लगे कि वास्तव में अपराध हुआ है और अपराध करने में अपराधी का हाथ होने की आशंका का आधार है तो दंडाधिकारी उसे जेल भिजवा दे, ताकि सर्किट कोर्ट के समक्ष मुकदमा किया जा सके, साथ ही उपरोक्त धारा और विनियम के अनुसार अन्य आवश्यक पूर्वोपाय करे ताकि मूल फरियादी अथवा मुखबिर तथा गवाहों की उपस्थिति सुनिश्चित की जा सके और तदनुसार कैदी पर मुकदमा चलाया जाये। ऐसा करते समय वही तरीका अपनाया जाएगा, जो हत्या के अन्य मामलों के सम्बन्ध में 1793 के विनियम 9 और 1795 के विनियम 16 के अनुसार अपनाया जाता है।

ब्रिटिश शासन ने जो दूसरा सामाजिक विधान बनाया, वह 1802 के बंगाल विनियम छह में अन्तर्विष्ट है। यह विनियम सागर तथा अन्य स्थानों पर बच्चों की बलि को रोकने के बारे में है। यह निम्न रूप में अधिनियमित हुआ –

विनियम VI
1802 ई.

सागर तथा अन्य स्थानों पर बच्चों की बलि रोकने के लिए विनियम। यह 20 अगस्त 1802 को (परिषद के गवर्नर जनरल द्वारा पारित हुआ।

1. परिषद के गवर्नर जनरल को यह अभिवेदन किया गया है कि बच्चों को पानी में डुबा कर अथवा शार्क मछली को खिलाकर बलि देने की अनुचित और अमानवीय प्रथा सागर द्वीप, बांसवाड़ा, चौघघ तथा गंगा के किनारे अन्य स्थानों पर चालू है। विशेष तौर से सागर में इस प्रकार के बलिदान एक निश्चित समय पर होते हैं, जैसे नवंबर तथा जनवरी में पूर्णिमा के दिन। ऐसे अवसरों पर बूढ़े व्यक्तियों ने भी इस प्रकार अपनी जान न्योछावर की है। सागर में समुद्र में फेंके गये बच्चे आमतौर से बचाए नहीं जाते, जैसी कि अन्य स्थानों पर प्रथा है। लेकिन इसके प्रतिकूल कुछ मामलों में ऐसी बलि बड़े नृशंस ढंग से दी जाती है। इस प्रथा का आधार अंधविश्वासी मनौतियाँ हैं। इस प्रथा की हिंदू कानून ने मंजूरी नहीं दी है और न ही धार्मिक विधान अथवा आम लोगों ने इसका समर्थन किया है। भारत की हिन्दू अथवा मुसलमान सरकारों ने भी इसका कभी अधिकार नहीं दिया। अत: ऐसे अपराध करने वाले लोगों को दंड दिया जा सकता है। अपराध से छुटकारा पाने के लिए प्रथा का तर्क अस्वीकार्य होगा। लेकिन इस अमानवीय प्रथा को प्रभावशाली ढंग से रोकने के लिए परिषद/गवर्नर जनरल ने निम्नलिखित विनियम बनाया है जो इसकी उद्घोषणा की तारीख से बंगाल, उड़ीसा और बनारस प्रांतों में लागू होगा।

2. यदि कोई एक व्यक्ति या कई व्यक्ति जानबूझ कर और जान लेने के इरादे से किसी बच्चे या ऐसे व्यक्ति को जो अभी वयस्क नहीं हुआ है, समुद्र या गंगा नदी या किसी अन्य नदी या पानी में उसकी सहमति से या उसकी सहमति के बिना फेंके या फिंकवाएँगे और यदि इसके परिणामस्वरूप वह व्यक्ति डूब कर मर जाता है या शार्क

मछलियाँ अथवा घड़ियाल उसे मार डालते हैं या किसी अन्य प्रकार से वह मर जाता है, तो वह व्यक्ति या वे व्यक्ति जो इस प्रकार बलिदान देंगे, वे जानबूझ कर हत्या के दोषी होंगे और दोष सिद्ध होने पर उन्हें मृत्यु की सजा दी जा सकेगी। और इस कार्य में सहायता करने वाले या उकसाने वाले सभी व्यक्ति हत्या के सहअपराधी समझे जाएँगे और उन्हें तदनुसार सजा में विनिर्दिष्ट अपराधों और मुख्य अथवा गौण सिद्ध दोषी कैदियों पर मुकदमे चलाने का काम निजामत अदालत की कोर्ट को सौंपा जाएगा। उस कोर्ट के विधि अधिकारियों का जो भी फतवा हो, विनियम 1793 की धारा 70 के अनुसार सजा देगी अथवा किसी ऐसे कैदी का मामला परिषद के गवर्नर जनरल को भेजेगी, जो उसे कोर्ट की 1793 के विनियम 9 की धारा 79 के अनुसार दया का समुचित पात्र प्रतीत होगा।

3. यदि कोई बच्चा अथवा कोई ऐसा व्यक्ति जो वयस्क नहीं हुआ है जैसा कि पहले बताया गया है, पानी में फेंका जाता है और वह मरने से बचा लिया जाता है या किसी तरह मरने से बच जाता है, तो वे व्यक्ति जो उसका जीवन खतरे में डालने में सक्रिय रहेंगे और इस काम में सहायता करने वाले तथा उत्प्रेरित करने वाले सभी व्यक्ति बड़े अपराध के दोषी होंगे और दोष सिद्ध होने पर उन्हें ऐसी सजा दी जा सकेगी, जो सर्किट कोर्ट अपने विधि अधिकारियों के फतवा के अनुसार मामले के फलस्वरूप और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए पर्याप्त समझें।

4. उन जिलों के दंडाधिकारियों से, जिनमें पहले बच्चों को बलि चढ़ाने की प्रथा रही है, इस प्रथा को रोकने के लिए सतर्क रहने की अपेक्षा की जाती है और यह आशा की जाती है कि वे समय-समय पर उन स्थानों पर तथा मौसम में जहाँ और जब ऐसी बलि अब से पहले होती है, इस विनियम के प्रावधानों की घोषणा करवाएँगे।

सामाजिक विधान का दूसरा अंश 1829 का बंगाल विनियम 17 है, जो सती के बारे में है। यह निम्नलिखित रूप में अधिनियमित हुआ है–

विनियम XVII
1829 ई.

1. सती अथवा हिंदुओं की विधवाओं को जिंदा जलाने या दफनाने की प्रथा को अवैध और दंड न्यायालयों द्वारा दंडनीय घोषित करने के बारे में विनियम जो परिषद के गवर्नर जनरल द्वारा 4 दिसंबर, 1829 को पारित किया गया।

प्रस्तावना

I. सती प्रथा या हिन्दुओं की विधवाओं को जिंदा जलाया जाना या दफनाया जाना मानव स्वभाव की संवेदनाओं के प्रतिकूल है। हिन्दू धर्म में कहीं भी यह नहीं कहा गया कि ऐसा करना जरूरी है। इसके विपरीत एक विधवा के मन में मुख्यत: यह बात बिठाई जाती है कि वह शुचिता और एकान्त का जीवन व्यतीत करे। और भारत के अधिकांश

हिन्दू इस प्रथा को न तो मानते हैं और न ही इसे चालू रखते हैं। कुछ बड़े जिलों में यह है ही नहीं, पर जिन जिलों में यह प्राय: अपनाई जाती है, वहाँ इसका कारण अनेक मामलों में अत्याचार है, जो स्वयं हिन्दुओं के लिए दहलाने वाली बात है और उनकी नजर में गैर-कानूनी और अन्यायपूर्ण है। ऐसी प्रथाओं को हतोत्साहित करने और रोकने के लिए अब तक जो तरीके अपनाए गये हैं वे विफल रहे हैं। परिषद् के गवर्नर जनरल की यह पक्की धारणा है कि इस प्रकार के कुकृत्यों को तब तक प्रभावी ढंग से नहीं रोका जा सकता, जब तक कि इस प्रथा को ही समाप्त नहीं कर दिया जाता। इन विचारों से प्रेरित होकर परिषद् के गवर्नर जनरल ने भारत में शासन प्रणाली के सर्वप्रथम और सर्वासि प्रणाली का पालन न्याय और मानवता का उल्लंघन किये बिना किया जा सकता है। निम्नलिखित नियम बनाना उचित समझा है। ये नियम तत्काल इनकी उद्घोषणा की तारीख से, फोर्ट विलियम प्रेसीडेंसी को छोड़कर सभी राज्यक्षेत्रों में लागू होंगे।

II. सती प्रथा अथवा हिन्दुओं की विधवाओं को जीवित जलाने या दफनाने की प्रथा का एतद्द्वारा अवैध और दंड न्यायालयों द्वारा दंडनीय घोषित किया जाता है।

III. **प्रथम–** सभी जमींदारों, ताल्लुकेदारों या भूमि के दूसरे मालिकों, चाहे मालगुजारी या लखीराज सभी प्रकार के किसानों और सभी प्रकार के भूमि के अवर वार्षिकी भोगियों, सभी आश्रितों, ताल्लुकेदारों सभी नायबों और अन्य स्थानीय एजेंटों को सरकार की ओर से भू-राजस्व और लगान की वसूली में लगे सभी देशी अधिकारियों अथवा कोई आम वाईस और सभी मंडलों अथवा गाँवों के अन्य मुखियाओं को विशेष रूप से इस बात के लिए उत्तरदायी घोषित किया जाता है कि वे उपरोक्त किसी भी प्रकार की सम्भावित बलि के बारे में निकटतम थानाध्यक्ष को तुरन्त जानकारी देंगे। यदि कोई जमींदार अथवा उपरोक्त में से कोई व्यक्ति जिसे ऐसी जिम्मेदारी दी जाती है, के उपर अपेक्षित जानकारी जानबूझकर नहीं देने अथवा देर से देने के लिए दोषी पाया जाता है, तो दंडाधिकारी अथवा संयुक्त दंडाधिकारी उस पर अधिकतम 200 रुपये का जुर्माना लगा सकेगा और भुगतान न करने की स्थिति में उसे अधिकतम छ: महीने की अवधि के लिए कारावास का दंड दे सकेगा।

इरादतन बलि के बारे में सूचना मिलने पर पुलिस दरोगा कैसे कार्रवाई करेंगे

द्वितीय– सूचना मिलने पर कि इस विनियम द्वारा गैर-कानूनी घोषित की गयी बलि होने की सम्भावना में तुरन्त ही या तो थानेदार स्वयं घटनास्थल पर जाएगा या अपने मुहर्रिर या जमादार को वहाँ भेजेगा जिसके साथ हिन्दू धर्म के एक या अनेक बरकुन्डोज जाएँगे और पुलिस अधिकारी का यह कर्तव्य होगा कि वह कार्यक्रम के लिए इकट्ठे हुए लोगों के समक्ष यह घोषित करे कि यह गैर-कानूनी है और वह उन्हें यह समझाने का

प्रयास करे कि वे तितर-बितर हो जाएँ और उन्हें यह भी स्पष्ट करे कि यदि वहीं डटे रहे, तो अपराध के दोषी वे भी हो जाएँगे और दंड न्यायालय उन्हें दंड दे सकेगा। यदि वहाँ एकत्र हुए लोग इस बात की परवाह नहीं करते हैं और कार्यक्रम को सम्पन्न करने के लिए आगे बढ़ते हैं, तो पुलिस अधिकारियों का यह कर्तव्य होगा कि वे बलि को रोकने के लिए हर सम्भव वैध तरीके का प्रयोग करें और उस व्यक्ति को गिरफ्तार कर लें, जो उस कार्यक्रम को सम्पन्न करने में सहायता दे रहा है और उन लोगों को उत्प्रेरित कर रहा है। यदि पुलिस अधिकारी उनको गिरफ्तार नहीं कर पाते, तो वे उनके नाम और उनके निवास स्थान के बारे में जानकारी प्राप्त करने का प्रयास करें और पूरा ब्यौरा तत्काल दंडाधिकारी या संयुक्त दंडाधिकारी को उसके आदेशों के लिए भेज देंगे।

बलि की सूचना बलि से पूर्व न मिल पाने पर कैसे कार्यवाही की जाएगी

तृतीय– इस विनियम द्वारा अवैध घोषित किसी बलि की अधिसूचना बलि होने तक पुलिस अधिकारियों तक न पहुँचने की स्थिति में, अथवा पुलिस अधिकारियों के घटनास्थल पर पहुँचने से पूर्व, बलि हो जाने की स्थिति में, पुलिस मामले की परिस्थितियों की उसी तरह पूरी जाँच करेगी जैसी कि अप्राकृतिक मृत्यु के सभी अन्य अवसरों पर की जाती है और उसकी रिपोर्ट उस दंडाधिकारी अथवा संयुक्त दंडाधिकारी को सूचना एवं आदेशों के लिए देगी, जिसके अधीन वह है।

IV. **प्रथम–** पूर्वोक्त प्रावधानों के अन्तर्गत पुलिस दरोगा से अपेक्षित रिपोर्ट प्राप्त होने पर जिस क्षेत्र में बलि हुई है, उस क्षेत्र का दंडाधिकारी या संयुक्त दंडाधिकारी मामले की परिस्थितियों की जाँच करेगा और इसे बढ़ावा देने वाले लोगों को सर्किट कोर्ट के समक्ष विचारण के लिए लाने के लिए आवश्यक उपाय करेगा।

एक हिन्दू विधवा की बलि में सहायता देने और उत्प्रेरित करने के दोषी व्यक्ति आपराधिक मानव वध के दोषी समझे जाएँगे और दंडित होंगे।

द्वितीय– एतद्द्वारा यह घोषित किया जाता है कि इस विनियम की उद्घोषणा के पश्चात एक हिन्दू विधवा को जीवित जलाकर अथवा दफनाकर उसकी बलि में सहायता देने तथा दुष्प्रेरित करने के सभी सिद्ध दोषी व्यक्ति, उसने यह बलि स्वेच्छा से की हो या नहीं, आपराधिक मानव वध के दोषी समझे जाएँगे और सर्किट कोर्ट के स्वविवेक से मामले के स्वरूप और परिस्थितियों के अनुसार तथा अपराधी के विरुद्ध पाये गये दोष की मात्रा के अनुरूप, जुर्माने अथवा कारावास अथवा जुर्मानों और कारावास दोनों के लिए दंडनीय होंगे और इसे न्यायोचित ठहराने के लिए यह तर्क स्वीकार नहीं किया जाएगा कि बलि हुई महिला की यह इच्छा थी कि वह उसकी मृत्यु में उसकी सहायता करे।

तृतीय– उपरोक्त अपराधी, सर्किट कोर्ट के समक्ष विचारण के लिए सुपुर्द किये

गये व्यक्तियों की जमानत मंजूर की जाये या नहीं, इस बात का फैसला दंडाधिकारी या संयुक्त दंडाधिकारी स्वविवेक से जमानत देने के सम्बन्ध में लागू सामान्य नियमों के अनुसार करेंगे।

निजामत अदालत की कोर्ट को कुछ मामलों में मौत की सजा का आदेश देने से रोका नहीं जाएगा।

V. यह घोषणा करना भी आवश्यक समझा जाता है कि इस विनियम की किसी बात का यह अर्थ नहीं लगाया जाएगा कि वह निजामत अदालत की कोर्ट को हिंसा या बल का प्रयोग करने, मद अवस्था या जड़ता या अन्य हेतुक से आक्रान्त होने पर एक हिन्दू विधवा को जलाने या जिन्दा दफनाने में सहायता करने के लिए दोषी ठहराए गये व्यक्तियों को मृत्यु दंड देने से इंकार करती है और कैदी के विरुद्ध साबित हुए अपराध के गुरुतर स्वरूप को ध्यान में रखते हुए कोर्ट उसे दया का समुचित पात्र समझती है। सामाजिक विधान का तीसरा अंश 1850 का जाति निर्योग्यता निवारण अधिनियम 21 है। इस अनिनियम का पाठ इस प्रकार है–

जाति निर्योग्यता निवारण अधिनियम, 1850
(1850 का 21)

बंगाल संहिता के विनियम VII, 1832 की धारा 9 के सिद्धान्त का ईस्ट इंडया कम्पनी की सरकार के अधीन राज्यक्षेत्रों में विस्तार करने के लिए अधिनियम

प्रस्तावना

बंगाल संहिता के विनियम VII, 1832 की धारा 9 द्वारा यह अधिनियमित है कि जब कभी किसी सिविल वाद में उस वाद के पक्षकार विभिन्न मतावलंबी हों, जब एक पक्षकार हिन्दू और दूसरा मुसलमान मत का हो, अथवा जहाँ वाद के पक्षकारों में से एक या अधिक या तो मुसलमान या हिन्दू मत के न हों, वहाँ उन धर्मो की विधियों को इस प्रकार प्रवर्तित नहीं होने दिया जाएगा, जिससे वे ऐसे पक्षकार या पक्षकारों को किसी सम्पत्ति से वंचित करें, जिससे कि वे ऐसी विधियों के प्रवर्तन के अभाव में हकदार होते। और उस अधिनियमिति के सिद्धान्त का ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार को अपने अधीन राज्य क्षेत्रों में विस्तार करना फायदेमंद होगा, अत: निम्नलिखित रूप में इसे अधि नियमित किया जाता है–

विधि या प्रथा का, जो धर्म परिवर्तन या जाति च्युति पर अधिकारों को समपहृत या प्रभावित करती है, प्रवर्तन में न रहना।

1. ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार के अधीन राज्यक्षेत्रों में अब प्रवृत्त किसी विधि या प्रथा का वह अंश जो किसी व्यक्ति के द्वारा किसी धर्म का त्याग करने या उसे

उसकी सहधर्मचारिता से अपवर्जित किये जाने अथवा जाति से वंचित किये जाने के कारण, अधिकारों या सम्पत्ति का समपहरण करता है या विरासत के किसी अधिकार या किसी प्रकार ह्रास या उसे प्रभावित करने वाला ठहराया जाये, ईस्ट इंडिया कम्पनी के न्यायालयों में और उक्त राज्य-क्षेत्रों में रायल चार्टर द्वारा स्थापित न्यायालयों में विधि के रूप में प्रवर्तित नहीं किया जा सकेगा।

सामाजिक विधान का चौथा अंश 1856 का हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम XV है। इस अधिनियम का पाठ इस प्रकार है–

हिन्दू विधवाओं के विवाह से सम्बन्धित सभी विधिक बाधाएँ दूर करने के लिए विधेयक

प्रस्तावना

जबकि, यह सब जानते हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार के कब्जे में तथा उसके अधीन राज्यक्षेत्रों में स्थापित सिविल न्यायालयों में यथा प्रशासित विधि द्वारा यह माना जाता है कि हिन्दू विधवाएँ कतिपय अपवादों को छोड़कर एक बार विवाह हो जाने के बाद दूसरा विधिमान्य विवाह करने में असमर्थ हैं, और ऐसी विधवाओं की दूसरे विवाह से उत्पन्न सन्तान अधर्मज तथा विरासत में सम्पत्ति प्राप्त करने में असमर्थ मानी जाती है, और जबकि बहुत से हिन्दू यह विश्वास करते हैं कि अध्यारोपित विधिक असमर्थता, यद्यपि प्रचलित रूढ़ि के अनुसार है, तथापि उनके धर्म के सिद्धान्तों के सही निर्वचन के अनुरूप नहीं है और वे चाहते हैं कि न्यायालयों द्वारा प्रशासित सिविल विधि इस विचारधारा के हिन्दुओं को अपने अन्तःकरण के आदेशों के अनुसार अन्य रूढ़ि अपनाने से न रोके, और जबकि ऐसे सभी हिन्दुओं को इस असमर्थता से, जिसके बारे में वे शिकायत करते हैं, मुक्त करना न्यायोचित है और हिन्दू विधवाओं के विवाह से सम्बन्धित सभी विधिक बाधाओं को दूर करने से, अच्छे नैतिक आधार और लोक कल्याण की अभिवृद्धि होगी, अतः निम्नलिखित रूप में यह अधिनियमित किया जाता है–

हिन्दू विधवाओं के विवाह को वैध किया जाना

1. किसी रूढ़ि और हिन्दू विधि के निर्वहन में किसी प्रतिकूल बात के होते हुए भी, हिन्दुओं में किया गया कोई विवाह अमान्य और ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान अधर्मज इस कारण नहीं होगी कि ऐसे विवाह से पूर्व उस स्त्री का विवाह किसी अन्य व्यक्ति के साथ हुआ था या उसकी सगाई किसी ऐसे अन्य व्यक्ति के साथ हो चुकी थी, जो ऐसे विवाह के पूर्व मर चुका था।

विधवा के पुनर्विवाह कर लेने पर मृत पति की सम्पत्ति में उसके अधिकारों का समाप्त हो जाना

2. ऐसे सब अधिकार तथा हित, जो किसी विधवा को उसके मृत पति की सम्पत्ति

में भरणपोषण के तौर पर या उसके पति की विरासत या उसके पारम्परिक उत्तराधिकारियों की विरासत के रूप में या किसी ऐसी वसीयती व्यवस्था के आधार पर, जो उसे पुनर्विवाह की अभिव्यक्त अनुज्ञा तथा ऐसी सम्पत्ति में उसे अन्य संक्रामण की शक्ति दिए बिना सीमित हित प्रदान करता हो, उसके पुनर्विवाह पर इस प्रकार समाप्त और पर्यवसित हो जाएँगे मानो उसकी उस समय मृत्यु हो गयी हो और तब उसके मृत पति के निकटतम वारिस या उस विधवा की मृत्यु के पश्चात् सम्पत्ति के हकदार अन्य व्यक्ति उसके उत्तराधिकारी होंगे।

सामाजिक विधान के पाँचवे अंश में एक स्त्री के साथ संभोग की आयु सीमा विहित की गयी। यह 1860 का पैंतालीसवाँ (XLV) अधिनियम है। (दंड संहिता) इसे धारा 375 में निम्नलिखित रूप में अधिनियमित किया गया–

एक व्यक्ति द्वारा बलात्कार किया कहा जाता है, यदि वह इसके पश्चात् अपवादित मामले के सिवाय निम्नलिखित पाँच में से किसी के अन्तर्गत आने वाली परिस्थितियों में एक स्त्री के साथ संभोग करता है– **प्रथम** - उसकी इच्छा के विरुद्ध। **द्वितीय** - उसकी सहमति के बिना। **तृतीय** - उसकी सहमति से जब पुरुष मानता है कि वह उसका पति नहीं है और वह सहमति देती है क्योंकि उसका विश्वास है कि वह अन्य पुरुष है जिससे उसका विधिपूर्वक विवाह हुआ है या होने का विश्वास करती है। **चतुर्थ** - (खाली छोड़ा गया) **पंचम** - उसकी सहमति या सहमति के बिना जब उसकी आयु दस वर्ष से कम है।

स्पष्टीकरण - (खाली छोड़ा गया) अपवाद - दस वर्ष से कम आयु न होने पर भी अपनी पत्नी के साथ एक पुरुष द्वारा संभोग।

अछूतों के बारे में जानकारी

भारत में जाति और छुआछूत दो बड़ी सामाजिक बुराइयाँ हैं। जाति ने सम्पूर्ण हिन्दू समाज को पंगु बना दिया है। छुआछूत ने समाज के एक बड़े वर्ग का दमन किया है। फिर भी अंग्रेजी सरकार ने इन दो बुराइयों की ओर ध्यान नहीं दिया है। भारतीय दंड संहिता में जाति अथवा छुआछूत के बारे में कोई प्रावधान नहीं है। यह सत्य है कि जाति और छुआछूत सामाजिक मामले हैं। जब लोग एक साथ बैठकर खाना खाने लगेंगे और अन्तर्विवाह करने लगेंगे तो ये स्वत: लुप्त हो जाएँगे। कानून किसी व्यक्ति को दूसरे के साथ खाने के लिए मजबूर नहीं कर सकता। यह भी सही है कि कानून किसी दूसरे के साथ विवाह करने को भी मजबूर नहीं कर सकता। लेकिन यह भी सच है कि यदि कोई जाति अपनी जाति के किसी आदमी को दूसरी जाति के व्यक्ति से विवाह करने से रोकती है, तो कानून उसे ऐसा करने से मना कर सकता है। जाति चलती रहती है क्योंकि यदि उसका कोई सदस्य जाति के नियमों को तोड़ता है तो जाति उसके विरुद्ध सामाजिक बहिष्कार की घोषणा कर उसे दंडित करने का षडयन्त्र कर सकती है। एक

कानून बनाकर ऐसे सामाजिक बहिष्कार को एक अपराध घोषित किया जा सकता था। जहाँ तक छुआछूत का सम्बन्ध है, इस मामले में निर्योग्यताएँ मात्र सामाजिक नहीं है। वे मूलतः नागरिक हैं। विद्यालय में दाखिला न ले पाना, सार्वजनिक कूप से पानी न ले सकना, सार्वजनिक वाहन में यात्रा न कर सकना, सरकारी सेवा में प्रवेश न पा सकना, ये सभी निर्योग्यताएँ हैं। ब्रिटिश सरकार का यह दायित्व था कि वह उनके नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक विधान बनाती। यह सम्भव था। जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम जैसा एक छोटा-सा कानून पर्याप्त था। फिर भी ब्रिटिश सरकार ऐसे चलती रही जैसे ये दो बुराइयाँ हों ही नहीं। वास्तव में यह एक बहुत ही असाधारण बात है कि यद्यपि विधायी संस्थाओं की भारत में 1861 में स्थापना हो गयी थी और सार्वजनिक प्रश्नों पर चर्चा की गयी फिर भी दो अवसरों के अतिरिक्त किसी अवसर पर अछूतों का जिक्र नहीं किया गया। पहली बार उनका 1916 में उल्लेख किया गया जब ्एक पारसी सज्जन पर मानकैजी दादा भाई ने केन्द्रीय विधानमंडल में निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किया– "यह सभा परिषद के गवर्नर जनरल से सिफारिश करती हैं कि वह दलित वर्गों के नाम से जाने वाले लोगों की नैतिक, आर्थिक और शैक्षिक स्थिति को सुधारने के लिए, आवश्यक हो तो सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिनिधियों की एक छोटी समिति की सहायता से उपाय किये जाएँ और एक प्रारम्भिक कदम के रूप में स्थानीय सरकार और प्रशासनों को स्थानीय स्थितियों का पूरा ध्यान रखते हुए योजनाएँ बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाय।"

इस प्रस्ताव में किसी ने दिलचस्पी नहीं ली। विधान मंडल के हिन्दू सदस्य विधान मंडल के समक्ष ऐसा विषय लाए जाने के कारण प्रस्तावकर्ता से नाराज थे। पंडित मदनमोहन मालवीय ने कहा– "श्रीमान जी, यह कहना अभद्र प्रतीत होता है, लेकिन इस सभा की कार्यवाही की मर्यादा की भावना, मुझे जिस ढंग से इस सभा के साथ विचारार्थ कभी-कभी विषय लाये जाते हैं, उसका विरोध करने के लिए बाध्य करती है। मैं एकदम कह सकता हूँ कि मैं इस प्रस्ताव के उद्देश्य का पूरा समर्थन करता हूँ, लेकिन इसे पेश करने में मेरे मित्र माननीय श्री दादाभाई ने असामान्य तरीके से हिन्दू समाज के विरुद्ध ऐसी टिप्पणी की है जो मैं समझता हूँ कि नहीं की जानी चाहिए थी। .... मैं हिन्दू समाज में व्याप्त सभी चीजों का बचाव करने के लिए यहाँ नहीं आया हूँ। .... मैं जानता हूँ कि हमारे समुदाय के एक वर्ग में या दूसरे वर्ग में अनेक पूर्वग्रह या अन्धविश्वास व्याप्त है। यह दुख की बात है लेकिन मैं उसके लिए क्षमायाचना करने के लिए यहाँ नहीं आया हूँ। परन्तु केवल हिन्दू समाज ही ऐसा नहीं है जिन्हें पूर्वग्रहों से मुक्ति पाने में कठिनाई हो रही है। मेरी मंशा किसी का निरादर करना नहीं है, लेकिन मैं एक मृत पत्नी की बहन के साथ विवाह विधेयक के मामले का उदाहरण देना चाहता हूँ। हम हिन्दुओं में .... के विरुद्ध संघर्ष करने में बहुत बुरे पूर्वग्रह हैं........ लेकिन मैं

नहीं समझता कि इस सभा का कोई सदस्य हिन्दुओं में व्याप्त सामाजिक और धार्मिक निर्योग्यताओं के बारे में यहाँ मौजूद हिन्दुओं को या बाहर यह भाषण देने का अधिकार है। हिन्दू स्वयं उनके विरुद्ध संघर्ष कर सकते हैं और उन्हें दूर कर सकते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सरकार ने एक विवेकपूर्ण और उदार नीति के अनुसरण में निर्धारित किया है कि वह धार्मिक या सामाजिक-धार्मिक स्वरूप के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी और इसलिए जिस प्रकार के आरोप यहाँ लगाए गये हैं वे नहीं लगाए जाने चाहिए ......। मैं, जो लांछन लगाए गए हैं, उनके गुण-अवगुण के विवाद में या जो सामान्य टिप्पणियाँ की गयी हैं उनके औचित्य में नहीं जाना चाहता हूँ। और फिर भी यदि मैं ऐसा नहीं करता तो मेरी यह स्थिति रह जाती है कि मैंने यह सुनने पर भी कोई टिप्पणी नहीं की कि देश के एक कोने से दूसरे कोने तक हिन्दू समाज उस सबका दोषी है जो मेरे मित्र इस प्रस्ताव के प्रस्तुतकर्ता ने बताया है ... मैं जानता हूँ कि हिन्दू समाज में कई पूर्वग्रह हैं जिनके विरुद्ध हमें संघर्ष करना होगा और उन पर जीत हासिल करना होगा। लेकिन उन सब के बारे में बताने के लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं है।"

इस बारे में श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी जैसे समाज सुधारक भी प्रसन्न नहीं थे। उन्होंने कहा- "मुझे बड़ा अफसोस है कि मेरे आदरणीय मित्र, इस प्रस्ताव के प्रस्तावक ने कुछ अवांछनीय ढंग से, मैं नहीं समझता कि उन्होंने जानबूझकर ऐसा किया है, हिन्दू समाज पर प्रहार किया है। उन्हें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हमें पुरानी परम्पराएँ विरासत में मिली हैं जो प्राचीन सभ्यता की देन हैं। इसमें सन्देह नहीं कि उस सभ्यता में दोष थे, लेकिन आदिकाल में यह सभ्यता कानून और व्यवस्था तथा सामाजिक स्थायित्व की एक गारंटी थी। विगत में इससे लाखों लोगों को सान्त्वना मिलती थी। हम अपने पर्यावरण के अनुरूप एक राष्ट्रीय प्रणाली विकसित करने का प्रयास कर रहे हैं, लेकिन हम उन सभी चीजों को तिलांजलि नहीं दे सकते जो हमें पूर्वजों से मिली हैं। हम उस ढाँचे का आदर करते हैं जो हमारे पूर्वजों ने खड़ा किया है। हमें उनकी त्रुटियों की जानकारी है और हम धीरे-धीरे उनसे छुटकारा पाना चाहते हैं। हम उनसे छुटकारा पाने के लिए कोई क्रान्तिकारी आन्दोलन नहीं छेड़ना चाहते, अपितु धीरे-धीरे परिवर्तन लाना चाहते हैं। मेरे मित्र को हमारे साथ थोड़ी हमदर्दी होनी चाहिए। इन समस्याओं से निपटने के हमारे प्रयासों के प्रति उन्हें उदार रवैया अपनाना चाहिए। मेरे माननीय मित्र ने सुझाव दिया है कि सरकार को उपाय करने चाहिए ... हम इस प्रकार के मामले में सरकार की कार्यवाही का स्वागत करते हैं। लेकिन अन्ततः आप स्थिति का विश्लेषण करें तो आपको पता चलेगा कि यह एक सामाजिक समस्या है और मैं समझता हूँ कि ब्रिटिश सरकार का अपनी प्राचीन परम्पराओं के अनुसार सामाजिक प्रश्नों में हस्तक्षेप न करना ही उचित है। सरकार शिक्षा के माध्यम से बहुत कुछ कर सकती है, उपाश्रित वर्गों में औद्योगिक आन्दोलन के प्रसार से सहायता देकर बहुत कुछ कर सकती है, लेकिन सबसे बड़ी समस्या सामाजिक उद्धार की समस्या है और इस मामले में सरकार केवल एक

शुभचिन्तक दर्शक की भूमिका निभा सकती है या हमारे प्रयासों के प्रति सहानुभूति व्यक्त कर सकती हैं, लेकिन उनमें सक्रिय भाग नहीं ले सकती।"

माननीय दादाभाई को अपना बचाव करना था। उन्होंने अपने उत्तर में कहा, "श्रीमान जी, मैं अपने आपको एक अजीब व दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति में पाता हूँ। इस सभा में दो पार्टियाँ हैं और इस अवसर पर वे दोनों बचाव कर रही हैं। इस प्रस्ताव के लाने के लिए किसी औचित्य की आवश्यकता है, तो वह औचित्य इस बात से स्पष्ट हो जाएगा कि मुझे मेरे गैर-सरकारी सहयोगियों से उत्साहरहित और बेमन का समर्थन मिला है। महोदय, मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यह प्रस्ताव लाने पर मुझे खुशी हुई है। मुझे यह प्रस्ताव लाना पड़ता तो मुझे बड़ी खुशी होती और मैं स्वेच्छा से ऐसा करता, जैसा कि माननीय सदस्य जानते ही हैं। इस पुनर्गठित सभा का यह छठा वर्ष है और दूसरी अवधि अब समाप्त होने वाली है। मैं इस सभा में पिछले पाँच वर्षो से हूँ और इस अवधि के दौरान मैं यह उम्मीद करता रहा कि लोग स्वतन्त्र जन भावना, लोक उद्यम तथा संस्कृति के हिमायती मेरे मित्र माननीय सुरेन्द्र नाथ बनर्जी अथवा पंडित मदन मोहन मालवीय जैसे लोग इस आशय का प्रस्ताव पेश करने का कष्ट करेंगे। मैंने इतना समय इसलिए प्रतीक्षा की, कि इन उत्साही सदस्यों में से कोई न कोई सदस्य दलित वर्गों के उद्धार के लिए प्रस्ताव लाएगा, लेकिन जब मैंने देखा कि इनमें से किसी सदस्य ने यह मामला नहीं उठाया है। यद्यपि कांग्रेस मंच पर भी कतिपय ढंग से इस मामले पर कभी-कभी बहस होती है, तो भी मैंने एक पारसी तथा एक हिन्दू निर्वाचन क्षेत्र का प्रतिनिधि होने के नाते इस सभा में सार्वजनिक चर्चा के लिए यह मामला उठाना अपना अधिकार समझा।"

इस झगड़े से सरकार को स्वाभाविक रूप से राहत महसूस हुई। अपनी कर्तव्यच्युति पर परदा डालने में विधानमंडल के हिन्दू सदस्यों का नैतिक समर्थन प्राप्त होने पर सरकार की ओर से बोलते हुए सर रेजीनाल्ड ने निम्नलिखित शब्दों में प्रस्ताव को निपटा दिया— "महोदय, हमें श्री दादाभाई के प्रस्ताव के उद्देश्य से सहानुभूति है। हम स्थानीय सरकारों से इस बात का रिकॉर्ड रखने के लिए कहने को तैयार हैं कि इन लोगों की स्थिति को सुधारने के लिए उन्होंने अभी तक क्या किया है? क्या कर रहे हैं और आगे क्या कर सकते हैं? लेकिन विशेष समितियों में हमें कोई आस्था नहीं है। क्या मैंने सभा को यह नहीं बताया कि समस्याएँ कितनी गम्भीर हैं और समितियों के माध्यम से उनका समाधान करना कितना कठिन होगा? इन समस्याओं की ओर पूरी सरकार ध्यान दे रही है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि माननीय दादाभाई जिन उद्देश्य से यह प्रस्ताव लाये हैं उनसे हमें सहानुभूति है, लेकिन हम स्थानीय सरकारों को यह प्रश्न सौंपने का वचन देने के अलावा और कुछ नहीं कर सकते। हम स्थानीय सरकारों से पूछ सकते हैं कि वे जितना कर रही हैं क्या उससे अधिक भी कर सकती हैं। हम इतना ही कर सकते हैं और इस आश्वासन के साथ मैं माननीय सदस्य से अनुरोध करता हूँ कि वह अपना प्रस्ताव वापस ले लें।"

दूसरी बार, विधानमंडल की कार्यवाही में अछूतों का उल्लेख 1928 में हुआ जब श्री एम.आर. जयाकर ने निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किया– "यह सभा परिषद के गवर्नर जनरल से सिफारिश करती है कि यह अछूतों तथा अन्य उपाश्रित वर्गों की शिक्षा के लिए विशेष सुविधाएँ देने और उनके लिए सभी सार्वजनिक सेवाओं विशेषकर पुलिस के द्वार खोलने के लिए स्थानीय सरकारों को निर्देश जारी करें।"

इस अवसर पर भी भारत सरकार उतनी ही उत्साहित थी जितनी की यह 1916 में थी। भारत सरकार की ओर से बोलते हुए भी श्री वी.एस. वाजपेयी ने कहा– "स्थानीय सरकारें अपनी जिम्मेदारी समझती हैं। वे जो कुछ कर सकती हैं कर रही हैं। मैं उनकी ओर से यह दावा नहीं कर सकता कि उन्होंने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है परन्तु मैं यह दावा करता हूँ कि अब उनमें जागृति आ गयी है, वे अपनी जिम्मेदारी को बड़ी अच्छी तरह समझती हैं और दलित वर्गों की स्थिति सुधारने के लिए बड़ी लगन से प्रयास कर रही हैं। ऐसी स्थिति में निर्देश जारी करके या माँग करके हस्तक्षेप करना उचित नहीं है। यदि सभा चाहती है, तो सरकार इस राष्ट्रीय समस्या पर सभा के विचारों से उनको अवगत करा सकती है।" कार्यवाही के अधिकारिक कार्यवृत्त के अनुसार इस भाषण के लिए श्री वाजपेयी की जय जयकार भी की गयी।

सामाजिक सुधार के मामले में ब्रिटिश सरकार का मात्र यही रिकॉर्ड है। यह कितना शोचनीय रिकॉर्ड है? विधायी कार्यकलाप के 60 वर्षों में मात्र 6 सामाजिक कानून बनाये गये। आरम्भ से ही इसकी प्रवृत्ति कोई सामाजिक सुधार न करने की रही है। 1860 तक इसने एक जिम्मेदार सरकार का नकाब लगाए रखा। 1860 के पश्चात इसने वह नकाब उतार कर फेंक दिया। सरकार ने कोई उपाय नहीं किया और सुधार प्रक्रिया बन्द हो गयी। 1881 में बाल विवाह पर रोक लगाने के लिए विधान बनाने के पक्ष में एक बड़ा आन्दोलन शुरू किया गया। सामाजिक सुधार लाने का कष्ट करने के बजाय, ब्रिटिश सरकार ने सार्वजनिक रूप से हमेशा के लिए यह घोषणा करने का साहस किया कि इसकी नीति कोई सुधार करना नहीं है। उस वर्ष के एक सरकारी प्रस्ताव में ब्रिटिश सरकार ने यह उद्घोषणा की– "श्री मालाबारी की टिप्पणी में जिस प्रकार के विषय उठाए गये हैं उनसे निपटने में भारत में ब्रिटिश सरकार ने आमतौर पर कुछ सामान्य सिद्धान्तों का ध्यान रखा है। उदाहरण के तौर पर जब जाति अथवा प्रथा कोई ऐसा व्यवहार करती है जिससे सामान्य आपराधिक विधि भंग होती है तो सरकार कानून लागू करेगी। जब जाति या प्रथा कोई ऐसा नियम बनाती है जो दीवानी न्यायालयों में लागू किया जा सकता है, लेकिन स्पष्ट रूप से नैतिकता अथवा सार्वजनिक नीति के विरुद्ध है, तो सरकार इसे लागू नहीं करेगी। जब जाति या प्रथा कोई ऐसा नियम बनाती है जिसका सम्बन्ध ऐसे मामलों से है, जो सामान्यतया नागरिकों की इच्छा पर छोड़ दिये जाते हैं और जिन्हें लागू करने के लिए दीवानी या फौजदारी न्यायालयों की सहायता की आवश्यकता नहीं होती तो ऐसे मामलों में सरकार का हस्तक्षेप वांछनीय

अथवा उचित नहीं समझा जाता। ऐसे सामान्य सिद्धान्त विशेष मामलों में लागू करने की बात को लेकर निस्सन्देह मतभेद हो सकते हैं, लेकिन एक सहजबुद्धि कसौटी है, जो इस बात पर विचार करने के लिए प्राय: लागू की जा सकती है कि क्या सरकार को विधायी या कार्यपालिका क्षमता में जिस तरह के अब सामाजिक या धार्मिक प्रश्न उठाए जा रहे हैं उनमें हस्तक्षेप करना चाहिए अथवा नहीं? इसकी कसौटी है कि क्या सरकार अपने सामान्य तन्त्र के आधार पर अपने आदेशों को लागू कर सकती है? यदि नहीं, तो सरकार को कोई ऐसा नियम नहीं बनाना चाहिए, जिसको वह सामान्य व्यवहार या प्रक्रिया का उल्लंघन किये बिना लागू नहीं कर सकती। यदि वर्तमान मामले में यह कसौटी लागू की जाये तो स्पष्ट हो जाएगा कि परिषद के महामहिम यह क्यों समझते हैं कि सरकार का दखल देना अवांछनीय है और श्री मालाबारी ने जिन सुधारों की वकालत की है उनका सम्बन्ध कई जातियों के रीति-रिवाजों से है और उनमें बराबर मतभेद है, इसलिए उनमें हस्तक्षेप न किये जाएँ ताकि समय बीतने के साथ-साथ शिक्षा के प्रसार से लोगों का धीरे-धीरे मानसिक और नैतिक विकास होने के साथ-साथ उसमें भी सुधार हो सके।

"यह सही है कि भारत में ब्रिटिश सरकार ने अपने कानून बनाकर नैतिकता का एक ऐसा स्तर कायम किया है, जो जाति के आधार पर कायम किये गये स्तर पर आश्रित नहीं है और कुछ भौतिक पहलुओं में उससे भिन्न है। हो सकता है कि पूर्ववर्ती स्तर का स्वदेशी रीति-रिवाजों, व्यवहारों और विचारधाराओं पर हितकारी प्रभाव पड़ा हो। किंतु विधान शिक्षात्मक प्रयोजनों के लिए ही क्यों न बनाया गया हो, एक ओर विधान और दूसरी ओर जाति अथवा रीति-रिवाज के प्रभाव के बीच प्रतिस्पर्धा होने पर पूर्ववर्ती की सफलता की शर्त यह है कि विधानमंडल को अपनी स्वाभाविक सीमाओं के अन्दर रहना चाहिए और उन सीमाओं का अतिक्रमण करके सामाजिक मत का सीधे विरोध नहीं करना चाहिए।" अत: जहाँ तक समाज सुधार का सम्बन्ध है, उस प्रस्ताव में निर्धारित नीति ही ब्रिटिश सरकार की हमेशा नीति रही है।

V

अंग्रेजी सरकार ने अछूतों को कठिन स्थिति में क्यों छोड़ दिया और उनकी कोई चिन्ता या परवाह क्यों नहीं की? इस अनुचित उपेक्षा का स्पष्टीकरण सर रेजीनाल्ड क्रेडाक ने दिया। वर्ष 1916 में साम्राज्यिक विधान सभा में श्री मानेकजी दादाभाई द्वारा पेश किये गये प्रस्ताव पर भारत सरकार की ओर से उत्तर देते हुए अछूतों के बारे में ब्रिटिश सरकार ने जो दृष्टिकोण अपनाया उसके बारे में उन्होंने कहा है– "अछूतों के बारे में कठिनाई यह नहीं है कि सरकार उन्हें मान्यता नहीं देती है, बल्कि कठिनाई यह है कि जब तक शताब्दियों पुरानी आदतें और पूर्वग्रह दूर नहीं किए जाते, तब तक उनके पड़ोसी अनिवार्य रूप से उन्हें दबाते रहेंगे ... आपको याद होना चाहिए कि इनमें से अधिकांश लोग गाँवों में रहते हैं और प्राय: गाँव की पिछड़ी गलियों में इनके घर होते हैं। इनके पड़ोसी अभी

संकुचित विचारधारा से प्रभावित हैं। अतः जैसा कि अनेकों वक्ताओं ने बताया है, इस प्रश्न से निबटने की समस्या केवल प्रशासनिक न होकर सामाजिक और धार्मिक अधिक है। मैं स्वयं विद्यालयों के मामलों में आने वाली कई कठिनाइयों के बारे में जानता हूँ। ऐसे बहुत से स्थान हैं जहाँ महार लड़कों को विद्यालय के अन्दर नहीं घुसने दिया जाता है, वे बरामदे में तो आ सकते हैं और अध्यापक का आंशिक रूप से ध्यान आकर्षित कर सकते हैं या उन्हें पूर्णतया निष्कासित किया जा सकता है। लेकिन इस कठिनाई को धीरे-धीरे ही दूर किया जा सकता है। मेरे सामने यह समस्या निरन्तर आती रहती है। मैंने लोगों को समझाने का प्रयास किया है। मैंने उन्हें बताया है कि वे भी आप की तरह करदाता हैं, या तो उन्हें विद्यालय में आने दीजिए या यदि आप अपने पूर्वग्रहों में फँसना ही चाहते हैं तो वे उचित पूर्वग्रह होने चाहिए। जैसा कि आप समझते हैं, यदि आप इन पूर्वग्रहों से प्रभावित होना ही चाहते हैं तो आप को कुछ ऐसा योगदान करना चाहिए कि इन लड़कों के लिए अलग विद्यालय बनाया जा सके। कुछ अच्छे लोग निम्न जातियों के लिए कुएँ बनाने और विद्यालय बनाने हेतु सहायता देने में आगे आये हैं। उन्होंने ऐसी सहायता करके, कठिनाइयाँ दूर की हैं। पर यह ऐसा मामला है जिसमें समय लगेगा और सरकार किसी को बाध्य नहीं कर सकती। वह कई बार इसके निकट भी जाती है, उदाहरण के तौर पर रेल द्वारा यात्रा में या जब याचिकाएँ न्यायालयों में पेश की जाती हैं। लेकिन वह यह सुनिश्चित नहीं कर सकती कि इन लोगों के साथ उनके कार्यालयों में अच्छा व्यवहार किया जाएगा। मैं समझता हूँ प्रायः इनमें से कुछ जातियों के लोग चाहते हुए भी कई बार सेवा में आने से कतराते हैं, क्योंकि उनके पड़ोसी उनके साथ अच्छा व्यवहार नहीं करेंगे। यद्यपि माननीय प्रस्तावक ने बम्बई सरकार द्वारा दिये गये वक्तव्य को 'शानदार नान–प्रासुमस' बताया है और मैं समझता हूँ कि सरकार इन बदकिस्मत लोगों की हर तरह से सहायता करना चाहती है। फिर भी यह सही है कि इन जातियों और जनजातियों की स्थिति आंशिक रूप से भविष्य में उनके अपने ऊपर निर्भर करती है और आंशिक रूप से उन अधिक कृपापात्र भारतीय समुदायों पर निर्भर करती है जो या तो मानवता का हाथ बढ़ाकर या अपने हृदयों को कठोर करके और अपने मुँह मोड़कर उनको ऊँचा उठाते हैं या उन्हें पतन की ओर ले जाते हैं। अतः महोदय, जहाँ तक इन दलित वर्गों का सम्बन्ध है, मैं समझता हूँ यह उनकी स्थिति का बिल्कुल सही चित्रण है।"

सन 1928 में केन्द्रीय विधान सभा में श्री जयकर के प्रस्ताव पर पुनः बहस हुई तो भी यही रवैया रहा। तब श्री वाजपेयी ने सरकार की ओर से बोलते हुए कहा– ..."विशेष विद्यालयों की संख्या बढ़ाने से या विशेष सुविधाएँ देने से अछूतों की समस्या का समाधान नहीं होगा .... इस समस्या का समाधान तभी होगा जब तथाकथित दलित वर्गों के प्रति समाज के सभी वर्गों का झुकाव तेजी से होगा और उनके प्रति चेतना में विस्तार होगा।"

यह सोच कर कि हिन्दुओं में तेजी से चेतना लाने से यह समस्या हल हो जाएगी, ब्रिटिश सरकार ने अछूतों की उपेक्षा की और यह समझ लिया कि एक सरकार के रूप में अछूतों की दशा सुधारने में सहायता करने के लिए उनको कुछ भी करने की आवश्यकता नहीं है। ब्रिटिश सरकार ने अछूतों जैसी अपनी असहाय प्रजा और दलित वर्ग की इस तरह उपेक्षा करने के सम्बन्ध में क्या सफाई दी इसका उत्तर बहुत स्पष्ट है। उन्होंने इसकी सफाई के रूप में यह तर्क दिया कि छुआछूत की बुराई उनकी देन नहीं है। उन्होंने तर्क दिया कि यदि उन्होंने छुआछूत की बीमारी को दूर करने के लिए कुछ नहीं किया, तो इसके लिए उनको दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए, क्योंकि यह उनकी देन नहीं है। 1856 में बम्बई सरकार द्वारा इसकी स्पष्ट रूप से घोषणा की गयी। जून 1856 में एक महार लड़के की ओर से बम्बई सरकार के समक्ष एक याचिका प्रस्तुत की गयी जिसमें शिकायत की गयी कि यद्यपि वह विद्यालय की सामान्य फीस देने को तैयार है उसे धारवाड़ सरकारी स्कूल में प्रवेश नहीं दिया गया है। आवेदन पत्र को निपटाते हुए बम्बई सरकार ने इस मामले को इतना महत्त्वपूर्ण समझा कि उसने दिनांक 21 जुलाई, 1856 को एक प्रस्ताव जारी किया जिसका पूरा पाठ इस प्रकार है–

"1. पत्राचार में चर्चित प्रश्न में एक बहुत बड़ी व्यावहारिक कठिनाई है।"

"2. इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सामान्य न्याय, महार याचिकादाता के पक्ष में है, और सरकार का विश्वास है कि जिन पूर्वग्रहों के कारण वह धारवाड़ में विद्यमान शिक्षा माध्यमों से इस समय लाभ नहीं उठा पाता, वे शीघ्र ही दूर हो जाएँगे।"

"3. किन्तु सरकार के लिए इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि एक या दो व्यक्तियों के लिए पीढ़ियों के पूर्वग्रह में संक्षिप्त ढंग से हस्तक्षेप करने से शिक्षा के मामले में सम्भवतया काफी नुकसान होगा। याचिकादाता को जो असुविधा हुई है, वह इस सरकार की देन नहीं है और यह असुविधा ऐसी है जिसे सरकार उसके पक्ष में हस्तक्षेप करके एकदम दूर नहीं कर सकती जैसा कि उसने सरकार से करने की याचिका की है।"

निस्संदेह यह सरकार के कर्तव्यों का सहज नजरिया है, यह जिम्मेवार नजरिया नहीं है। एक सभ्य सरकार को निश्चित रूप से यह नजरिया नहीं अपनाना चाहिए। एक सरकार जो शासन करने से डरती है वह सरकार नहीं है। वह कर एकत्र करने के लिए बनाया गया एक निगम है। निस्सन्देह ब्रिटिश सरकार कर एकत्र करने के लिए नहीं बनाई गयी थी, उसे किसी अन्य प्रयोजन से बनाया गया था। वह एक सभ्य सरकार होने का दावा करती थी, तब इसने अन्याय को रोकने का कार्य क्यों नहीं किया? क्या इसका कारण यह था कि सरकार के पास शक्ति नहीं थी या इसका कारण यह था कि सरकार अपनी शक्ति का प्रयोग करने से डरती थी या उसका कारण यह था कि सरकार समझती थी कि भारत की सामाजिक और धार्मिक प्रथाओं में कोई दोष नहीं है। इसका उत्तर यह है

कि सरकार के पास शक्ति तो बहुत थी, लेकिन सरकार ने अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं किया। क्योंकि कुछ समय तक उसे यह समझ में नहीं आया कि हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था में कोई दोष है और जब उसकी समझ में आ गया कि हिन्दुओं की सामाजिक व्यवस्था दोषपूर्ण है तो इस पर डर की भावना मँडराने लगी। यह आमतौर पर जाना जाता है कि अंग्रेज आरम्भ में सोचते थे कि उन्हें ईसाई सभ्यता के प्रसार की अनुमति दी तो इसके भयानक और भीषण परिणाम होंगे। लेकिन यह बात इतने लोग नहीं जानते कि अंग्रेज उसी समय देशज पूर्वग्रहों के प्रति आदर प्रदर्शित कर रहे थे। कलकत्ता के एक धर्मप्रचारक ने 1802 की अपनी पत्रिका में निम्नलिखित तथ्यों का उल्लेख किया है–

"पिछले सप्ताह एक सरकारी शिष्टमंडल एक शोभायात्रा में कालीघाट गया और हिन्दुओं की वहाँ की देवी को इस देश में अंग्रेजों को हाल में मिली सफलता के लिए, कम्पनी की ओर से धन्यवाद के रूप में एक भेंट प्रस्तुत की। उसमें पाँच हजार रुपये देवी के सामने रखे गये। तब कई हजार देशी लोगों ने अंग्रेजों को इस मूर्ति के सामने अपनी भेंट प्रस्तुत करते हुए देखा। हमें इस कार्य पर काफी दुख हुआ है, पर भारत के लोग इस पर काफी आनन्दित हैं।"

इसका एक और उदाहरण रॉबर्ट लिंडसे ने दिया है, जो वारेन हेस्टिंग्स के समय ईस्ट इंडिया कम्पनी में एक सिविल कर्मचारी के रूप में कार्य करते थे। सिल्हेट में रेजीडेंट के अपने नये कार्यालय में अपनी पहल का ब्योरा देते हुए उन्होंने कहा है– "मुझे बताया गया कि नये रेजीडेंट के लिए संरक्षक संत शाजल्लोल की समाधि पर श्रद्धा के सुमन का रिवाज है। इस्लाम धर्म के तीर्थ यात्री इस समाधि पर भारत के हर कोने से आते हैं और बाद में पता चला कि समाधि की देखभाल करने वाले धर्मार्थ लोग जरा भी खतरनाक नहीं हैं। धार्मिक पूर्वग्रहों का विरोध करना मेरा काम नहीं है। अतः जैसे अन्य लोग मेरे से पहले गये थे, मैं भी दर्शनार्थ गया, अपने जूते प्रवेश द्वार पर छोड़े और भेंट के रूप में समाधि पर पाँच सोने की मोहरें रखीं। इस प्रकार पवित्र होने पर मैं अपने निवास स्थान वापस पहुँचा और अपनी प्रजा की श्रद्धांजलि स्वीकार की।"

ब्रिटिश सरकार का भारतीय पूर्वग्रहों का समर्थन करने में कितना हाथ था और वह इनमें कितनी दिलचस्पी लेती थी यह बात निम्नलिखित संस्मरण से स्पष्ट हो जाती है बिशप कोरी ने 1833 में मद्रास सरकार को प्रस्तुत किया था। इसमें दिये गये उदाहरण इस प्रकार थे–

"प्रथम : अब सरकार के दोनों सिविल और सैनिक ईसाई कर्मचारियों से सम्मान प्रदर्शित करने की दृष्टि से हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक त्योहारों में भाग लेने की अपेक्षा की जाती है। दूसरा : कुछ मामलों में उनसे भेंट अर्पित करने और मूर्तियों को श्रद्धा सुमन चढ़ाने की अपेक्षा की जाती है। तीसरा : अब मन्दिरों की अपवित्र और अपमानजनक सेवाएँ मूल यूरोपियनों के पर्यवेक्षण और नियन्त्रण में चलाई जाती हैं। इस

कारण 1817 के विनियम-7 के प्रावधानों के अन्तर्गत दोनों इन मन्दिरों और मस्जिदों के प्रबन्ध राजस्व और धर्म दायों के निर्माण का काम सरकार के ईसाई अधिकारियों को इस प्रकार सौंपा गया है कि ईसाई पदाधिकारी की औपचारिक सहमति और आदेशों के बिना मूर्तिपूजा सम्बन्धी कोई महत्त्वपूर्ण धर्मक्रिया नहीं की जा सकती, विभिन्न मूर्तियों के किसी परिचारक यहाँ तक कि मन्दिर की वेश्याओं को न तो रखा जा सकता है और न ही बर्खास्त किया जा सकता है और न ही कोई खर्च किया जा सकता है। चौथा : अब ब्रिटिश अधिकारी भी सरकार की फौज के साथ गोला दाग कर सलामी देने, अन्यथा मुसलमानों के समारोहों में भाग लेने और मूर्तियों पर श्रद्धा-सुमन चढ़ाने के लिए नियुक्त किये जाते हैं। यहाँ तक कि विश्राम के दिन भी उन्हें इस काम पर लगाया जाता है। अतः सरकार ईसाइयों को बहुधा अपनी अत्यन्त पवित्र संस्थाओं को अपवित्र करने और तथा अपमानजनक अन्धविश्वासों में भाग लेने के लिए बाध्य नहीं करती है।

यह दिखाने के लिए इतना काफी है कि भारत में ब्रिटिश सरकार, देव वाक्य के प्रचार का दमन करने के अपने प्रयासों से सन्तुष्ट न होने पर खुले और अधिकारिक रूप से निकृष्टतम किस्म की पिशाच पूजा की सहायता तथा समर्थन कर रहे थे। वे हिन्दू धर्म की घृणित अश्लीलताओं और वीभत्स क्रूरताओं को अपना विशेष संरक्षण प्रदान कर रहे थे, अपने विधिनायकों को नारकीय व्यभिचारों का संचालन करने के लिए भेज रहे थे, और पितृ सुलभ कोमलता के साथ मूर्ति मन्दिरों की सम्पत्ति की देखरेख कर रहे थे, पुजारियों को इस कदर सम्मान दे रहे थे कि वे खुशी से फूल-फूल कर मोटे हो रहे थे।"

यह सिलसिला 1841 तक चलता रहा और 1841 में ही सरकार ने हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेना बन्द किया और वह भी तब, जब ईसाई धर्म प्रचारकों ने काफी आन्दोलन किया।

सेंट जॉर्ज की सरकार के सैनिक सचिव द्वारा 6 जुलाई, 1841 को हस्तक्षेप और निदेशक मंडल के निदेशों के अन्तर्गत, भारत सरकार के माध्यम से प्रधान सेनापति को भेजे गये एक परिपत्र में यह सूचित किया गया कि देशी त्योहारों अथवा समारोहों में सैनिकों तथा सेना के बैंडों की उपस्थिति तथा इस प्रकार के अवसरों पर गोली दाग कर सलामी देने की प्रथा, भविष्य में बन्द की जाएगी, ताकि जहाँ तक हो सके सरकार और इसके अधिकारी हिन्दू और मुसलमान धर्मों के ऐसे अनुष्ठानों से दूर रहें। तथापि देशी राजाओं को ऐसे त्योहारों और धार्मिक अनुष्ठानों में जाते समय और लौटते समय जो सम्मान दिया जाता है, वह दिया जाता रहेगा और यह परिवर्तन ऐसे ढंग से किया जाएगा कि मूल निवासियों के मन पर अथवा उनकी भावनाओं पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। ये आदेश प्रधान सेनापति द्वारा डिवीजनों की कमान रखने वाले जनरलों को भेजे गये और जनरलों द्वारा अपनी कमान के अन्तर्गत आने वाली रेजीमेंटों को भेजे गये।

एक ऐसी सरकार से जो देशी पूर्वग्रहों में इतनी तल्लीन हो गयी है और जो उन्हें बनाए रखने तथा उनकी रक्षा करने में ऐसे सरकारी संसाधनों को बर्बाद करती है, सुधार की क्या आशा की जा सकती थी? वह सहानुभूति से आक्रान्त और स्तंभित थी। जब पूर्वग्रहों के प्रति उसकी सहानुभूति समाप्त हो गयी, तो उस पर डर छा गया। इस डर के दो कारण थे। पहला कारण वे वादे थे जो उसने भारत के लोगों को दिये थे। किसी देशी राजा के अन्तर्गत नये राज्यक्षेत्र का शासन सम्भालने से पूर्व ब्रिटिश सरकार का यह घोषणा करने का दस्तूर था कि अपने धर्मों का आजादी से पालन करने में लोगों को संरक्षण प्रदान किया जाएगा और न ही उनकी संस्थाओं अथवा उनके रीति रिवाजों पर प्रहार किया जाएगा। इस प्रकार कर्नाटक के लोगों के लिए 1804 में निम्नलिखित शब्दों में एक विधिवत घोषणा की गयी– "यद्यपि परिषद के गवर्नर का विश्वास है कि कर्नाटक के निवासियों को जो अनुभव हुआ है, उसको देखते हुए नियन्त्रण के लिए संयम, न्याय, संरक्षण और सुरक्षा के सामान्य सिद्धान्त स्पष्ट करना, जो ब्रिटिश सरकार के विशेषता सूचक लक्षण हैं, अनावश्यक हो गया है, फिर भी वर्तमान वचनबन्धों द्वारा कम्पनी को हस्तांतरित पवित्र उत्तरदायित्व को स्वीकार करते हुए 'हिज लॉर्डशिप' कर्नाटक के लोगों से माँग करते हैं कि वे कम्पनी के प्राधिकार को तुरन्त और खुशी से मान लें और उन्हें आश्वासन देते हैं कि सार्वजनिक कानूनों के अन्तर्गत उन्हें पूरी सुरक्षा प्रदान की जाएगी। उन्हें सभी नागरिक अधिकार प्राप्त होंगे और उन्हें अपनी धार्मिक प्रथाओं तथा पूर्वजों के रीति रिवाजों पर चलने की पूरी आजादी होगी।"

मई 1834 में कुर्ग को जीतने के बाद वहाँ के लोगों के लिए निम्नलिखित उद्घोषणाएँ जारी की गयीं : "कुर्ग के निवासियों की यह सर्वसम्मत आकांक्षा है कि उन्हें ब्रिटिश सरकार के संरक्षण में लिया जाये, अतः महामहिम माननीय गवर्नर जनरल ने यह निश्चय किया है कि अब तक जिस राज्यक्षेत्र पर वीर राजेन्द्र वुडयार का शासन था, उसे माननीय कम्पनी को हस्तांतरित कर दिया जाएगा। एतद्द्वारा निवासियों को आश्वस्त किया जाता है कि उन्हें पुनः देशीय शासन के अधीन नहीं लाया जाएगा और उनके नागरिक अधिकारों और धार्मिक रिवाजों का आदर किया जाएगा, और उनकी सुरक्षा, आराम और प्रसन्नता का अनिवार्य रूप से ब्रिटिश सरकार पूरा ध्यान रखेगी।"

1849 में पंजाब को अपने राज्यक्षेत्र में मिला लेने के पश्चात वहाँ के लोगों को भी निम्नलिखित आश्वासन दिया गया– "ब्रिटिश सरकार सभी लोगों को, चाहे वे मुसलमान हों, हिन्दू हों, या सिक्ख हों, अपने-अपने धर्मों का आजादी से पालन करने की छूट देगी, लेकिन वह किसी एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति द्वारा ऐसे रीति-रिवाजों का पालन करने में बाधा डालने की अनुमति नहीं देगी, जिनकी उनके अपने-अपने धर्म अनुमति देते हैं।" ऐसी अन्य घोषणाओं का भी उल्लेख किया जा सकता है। उन्हें प्रतिज्ञा समझा जाता था।

ऐसी प्रतिज्ञाएँ देना उचित और न्यायसंगत था या नहीं, यह महसूस किया गया कि एक बार देने के पश्चात् उनकी उपेक्षा करना अनुचित है। यह आम धारणा थी। लेकिन कुछ लोग ऐसे थे जो उनका शाब्दिक अर्थ लेते थे और जिनका विचार था कि कोई भेद न किया जाये और कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाये। वे इन प्रतिज्ञाओं का भारतीयों के लिए यह अर्थ लगाते थे– "आपने नये के अधीन निर्विघ्न रूप से आनन्द लिया है" और उनका कहना था– "इससे हटना विश्वास भंग होगा।" विश्वास भंग का डर एक कारण था। खुले विद्रोह का डर दूसरा कारण था।

जहाँ तक भारत में ब्रिटिश सरकार का सम्बन्ध है, विद्रोह का डर बेवजह का डर नहीं था। यह अनुभव पर आधारित एक तथ्य था। 1801 में एक विद्रोह हुआ था जो वेल्लोर विद्रोह के नाम से जाना जाता है। 1857 में दूसरा विद्रोह हुआ था। यह सिपाही विद्रोह के नाम से जाना जाता है। वेल्लोर विद्रोह एक शोला था और सिपाही विद्रोह एक अग्निकांड था। दोनों विद्रोहों के मामलों में कथित कारण हिन्दुओं के धार्मिक रीति-रिवाजों में दखल देना था। पाठ पढ़ाने के लिए दो विद्रोह काफी हैं और इन दो विद्रोहों के पाठ की ब्रिटिश सरकार ने अनदेखी नहीं की। 1801 के वेल्लोर विद्रोह ने ब्रिटिश सरकार को सामाजिक परिवर्तनों के मामले में सचेत कर दिया। 1857 के सिपाही विद्रोह के पश्चात वे हर प्रकार के सामाजिक सुधार का विरोध करने लगे। अंग्रेज कोई जोखिम नहीं लेना चाहते थे और उनके मतानुसार जोखिम बहुत बड़ा था। विद्रोह ने उन्हें इतना आतंकित बना दिया कि वे सोचने लगे कि सामाजिक सुधार हुआ, तो भारत उनके हाथ से जाता रहेगा, और चूँकि वे चाहते थे कि भारत उनके हाथ में रहे, उन्होंने सामाजिक सुधार की किसी परियोजना पर विचार करने से इंकार कर दिया। समाज सुधार के प्रति ब्रिटिश सरकार का रवैया ऐसा होना स्वाभाविक था। कोई सरकार कितनी ही सार्वभौम हो, प्रो. डिक्के[1] के अनुसार इसका प्राधिकार दो प्रतिबन्धों के कारण सीमित हो जाता है–

सर्वप्रथम यहाँ आन्तरिक सीमा है जो उन लोगों के चरित्र, उद्देश्यों और हितों से उत्पन्न होती है जो सत्ता में हैं। यदि सुलतान इस्लाम को समाप्त नहीं करता, पादरी ईसाई धर्म को पाबन्द नहीं करता, ब्राह्मण जाति की निन्दा नहीं करता या ब्रिटिश संसद नीली आँखों वाले बच्चों की सुरक्षा को गैर-कानूनी बताती है तो यह इसलिए नहीं है कि वे कुछ नहीं कर सकते, बल्कि इसलिए है कि वे ऐसा नहीं करेंगे। इसी प्रकार यदि भारत में कार्यकारिणी ने कुछ ऐसी चीजें नहीं कीं, जिनसे प्रगति में काफी सहायता मिल सकती थी तो इसका कारण यह था कि वह औपनिवेशिक सरकार थी और अपने चरित्र, उद्देश्यों और हितों के कारण भारतीय समाज की सक्रिय शक्तियों से सहानुभूति नहीं कर सकी थी, उसे उनकी दरिद्रता, व्यथा, लालसा और अभिलाषाओं की कोई चिन्ता नहीं थी, उनकी आकांक्षाओं के प्रति उदासीन थी, शिक्षा को बढ़ावा नहीं देती थी, स्वदेशी के विरुद्ध थी और कोई ऐसी

1. लॉ ऑफ द कांस्टीट्यूशन, 1915, पृष्ठ 74-82

चीज सहन नहीं कर सकती थी, जिससे राष्ट्रवाद की बू आती हो। इसका कारण यह था कि ये सभी चीजें इसके स्वभाव के प्रतिकूल थीं। लेकिन एक गैर–जिम्मेदार सरकार जो चीजें करना चाहती है, वे भी नहीं कर सकती, क्योंकि बाहरी विरोध की सम्भावना के कारण इसका अधिकार सीमित हो जाता है। कुछ चीजें ऐसी होती हैं, जो सरकार करना चाहती है, लेकिन करने का साहस नहीं करती, क्योंकि उसे डर होता है कि कहीं उसकी गद्दी के लिए खतरा न हो जाये। सीजर ने रोमन लोगों की पूजा बन्द करने की हिमाकत नहीं की। एक आधुनिक संसद आवश्यक समझने पर भी उपनिवेशों पर कर लगाने का साहस नहीं कर सकती। इसी कारण भारत सरकार जाति प्रथा को समाप्त करने का साहस नहीं कर सकी। एक बार शादी करने का नियम बनाने, उत्तराधिकारी कानूनों को बदलने, अन्तरजातीय शादियों को कानूनी करार देने या चाय बागानों के मालिकों पर कर लगाने का साहस नहीं कर सकी। प्रगति के लिए सामाजिक जीवन की वर्तमान नियमावली में दखल देना अनिवार्य है और दखल देने के विरोध होने की सम्भावना रहती है। फिर भी एक जनता की सरकार जो उनसे निर्लिप्त नहीं, प्रगति के पथ पर चलने का साहस कर सकती है क्योंकि वह यह जानने की स्थिति में होती है कि आज्ञा का पालन कहाँ तक होगा और कहाँ से विरोध आरम्भ होगा। लेकिन भारत की सरकार, जनता की सरकार न होने के कारण लोगों की नब्ज को न पहचान सकी। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि गैर–जिम्मेदार कार्यपालिका जो भारत में सत्ता में थी, अपने अधिकारों पर इन दो सीमाओं के कारण कुछ करने में असमर्थ थी और जीवन को सुधारने के लिए जो बहुत कुछ किया जा सकता था, नहीं किया जा सका। कुछ काम तो वह करना नहीं चाहती थी, और कुछ कर नहीं सकती थी। इससे इंकार नहीं किया जा सकता कि कुछ भौतिक प्रगति हुई। लेकिन विश्व में कोई भी व्यक्ति अधिक देर तक शान्ति और व्यवस्था से होने वाले लाभों से सन्तुष्ट नहीं रह सकता, क्योंकि वे गूँगे पशु नहीं हैं। यह कल्पना करना मूर्खता है कि कोई जाति अनिश्चित काल तक नौकरशाही का पक्ष लेगी, क्योंकि नौकरशाही उनकी सड़कों का सुधार करती है, अधिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आधार पर नहरों का निर्माण करती है, उनके परिवहन के लिए रेलें बनाती है, डाक द्वारा उनके पत्रों को पहुँचाने की व्यवस्था करती है, बिजली की तरह उनके सन्देशों को पहुँचाती है, उनकी मुद्रा में सुधार लाती है, उनके नाप और तोल को नियमित करती है। भूगोल, विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र के बारे में उनकी धारणा को ठीक करती है। कोई भी जाति कितनी ही धैर्यवान क्यों न हो, देर–सवेर एक ऐसी सरकार की माँग करेगी जो कुशल होने के अलावा कुछ और भी होगी।

जनता राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वाधीनता चाहती थी जो ब्रिटिश सरकार ने देने से इंकार कर दिया– "इसके परिणामस्वरूप जहाँ तक लोगों के नैतिक और सामाजिक जीवन का सम्बन्ध है, मुगलों की सरकार के स्थान पर अंग्रेजों की सरकार के आने से केवल शासक का परिवर्तन हुआ, शासन प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं

हुआ। कुछ तो अपनी पसन्द और कुछ हद तक अपनी आवश्यकता के कारण अंग्रेजों ने हस्तक्षेप न करने का सिद्धान्त अपनाया, जिससे भारत के मूल निवासियों ने पाया कि अंग्रेजों की सरकार किसी महत्त्वपूर्ण दृष्टि से उन सरकारों से भिन्न नहीं है, जिनके अधीन वे पुराने और विस्मृत इतिहास के समय से कठिन परिश्रम करते आये हैं और जीते-मरते रहे हैं। राजनैतिक दृष्टि से इस परिवर्तन का अर्थ केवल एक तानाशाह के स्थान पर दूसरे तानाशाह का आना था। अंग्रेजों ने वही व्यवस्था स्वीकार कर ली, जो इसे मुगलों से मिली और उसे ज्यों-का-त्यों बनाये रखा।[1] जैसे कि चीन के दर्जी करते हैं। जब चीन के दर्जी को कोई कोट सिलाई के लिए दिया जाता है, और साथ में कोई नमूना दिया जाता है, तो वे हूबहू उसी प्रकार का दूसरा कोट बना देते हैं। अंग्रेजों ने भी ठीक ऐसा ही किया।''2 हस्तक्षेप न करने की यह नीति बोधगम्य थी लेकिन जहाँ तक अछूतों का सम्बन्ध है, इसकी धारणा गलत थी और इसके परिणाम गम्भीर रहे। यह सही माना जा सकता है कि हिन्दू, अछूतों के मानव अधिकारों को मान्यता दें और उन्हें मानव समझें तो अछूतों का उद्धार हो सकता है। लेकिन इससे मामला समाप्त नहीं हो जाता। प्रश्न यह रहता है कि मानव के रूप में अछूतों के अधिकारों को मान्यता कैसे दी जाएगी? इस उद्देश्य को प्राप्त करने के केवल दो तरीके हैं। एक तरीका यह है कि उसे आदर योग्य बनाया जाये और दूसरा तरीका यह है कि उन लोगों को दंड दिया जाये जो उसका निरादर करते हैं और उसे उसके अधिकारों से वंचित करते हैं। पहले तरीके के अन्तर्गत उसे शिक्षित करना होगा और उसे अधिकार वाले पदों पर बिठाना होगा। दूसरे तरीके के अन्तर्गत छुआछूत को एक दंडनीय अपराध मानना होगा और इस प्रकार समाज सुधार करना होगा। ब्रिटिश सरकार इनमें से कोई भी तरीका अपनाने को तैयार नहीं थी। ब्रिटिश सरकार अछूतों को सरकारी सेवा में प्राथमिकता भी देने के लिए तैयार नहीं थी। ब्रिटिश सरकार हिन्दू समाज में सुधार लाने के लिए भी तैयार नहीं थी, इसका परिणाम यह हुआ कि अछूत अंग्रेजों से पहले भी अछूत थे और अंग्रेजों के बाद भी अछूत रहे। अछूत एक नागरिक था लेकिन उसे एक नागरिक के अधिकार नहीं दिये जाते थे। वह कर देता था जिससे विद्यालयों का रख-रखाव किया जाता था, लेकिन उसके बच्चों को उन विद्यालयों में दाखिला नहीं मिल सकता था। वह जो कर देता था उससे कुएँ बनते थे, लेकिन उन्हें उन कुँओं से पानी लेने का कोई अधिकार नहीं था। वह जो कर देता था उनसे सड़कें बनती थीं लेकिन उन्हें उनका प्रयोग करने का अधिकार नहीं था। वह राज्य के अनुरक्षण के लिए करों का भुगतान करता था, लेकिन उसे राज्य में पद ग्रहण

---

1. बर्मा में मतदान-कर, केवल इसलिए जारी रखा गया, क्योंकि वह वहाँ उसे जीतने से पहले से लागू था।
2. बर्नार्ड हाफरन, ब्यूरोक्रेटिक गवर्मेंट

करने का अधिकार नहीं था। वह एक व्यक्ति तो था, लेकिन नागरिक नहीं था। अछूत को शिक्षा और जल प्रदाय की सबसे अधिक आवश्यकता थी। उसे संरक्षण के लिए पद की सबसे अधिक आवश्यकता थी। गरीबी के कारण उस पर कोई कर नहीं लगाया जाना चाहिए था। लेकिन स्थिति बिल्कुल विपरीत थी। अछूत को स्पृश्य की शिक्षा के लिए करों का भुगतान करना पड़ता था। स्पृश्यों को जल की पूर्ति के लिए अछूतों को करों का भुगतान करना पड़ता था। दफ्तरों में काम करने वाले स्पृश्यों के वेतन का भुगतान करने के लिए अछूतों पर कर लगाए जाते थे। अंग्रेजों की जीत से अछूतों को क्या लाभ हुआ था? शिक्षा में कुछ नहीं, नौकरियों में कुछ नहीं, प्रतिष्ठा में कुछ नहीं। केवल एक चीज में उन्हें लाभ हुआ था और वह है कानून की नजर में समानता। वास्तव में इसमें कोई विशेष बात नही है, क्योंकि कानून के सामने समानता सबके लिए समान है। वास्तव में इसमें कोई ठोस बात नहीं है, क्योंकि जो पदासीन होते हैं वे प्रायः अपनी स्थिति का दुरुपयोग करते हैं और अछूतों को इस नियम के लाभ से वंचित रखते हैं। इस स्थिति में कानून की नजर में समानता के सिद्धान्त से अछूतों को यह विशेष लाभ हुआ कि अंग्रेजों के दिनों से पहले उन्हें यह अधिकार कभी नहीं मिला। मनु के कानून में समानता के सिद्धान्त को कभी मान्यता नहीं दी गयी। असमानता, मनु के कानून की आत्मा थी। यह जीवन के सभी व्यवसायों, सभी सामाजिक सम्बन्धों और राज्य के सभी विभागों में व्याप्त थी। इसने हवा को दूषित कर रखा था, जिसमें अछूतों के लिए साँस लेना कठिन हो गया था। कानून की नजर में समानता के सिद्धान्त ने मलिनता दूर करने का काम किया है। इसने हवा को शुद्ध किया है और अछूत आजादी की साँस ले सकता है। अछूतों को वास्तव में यह लाभ हुआ है और प्राचीन काल का ध्यान रखते हुए यह लाभ कम नहीं है।

भाग - तीन

सरकारी विधि महाविद्यालय की पत्रिका के 4 जनवरी, 1936 के अंक में महाविद्यालयों की टिप्पणियों के अन्तर्गत निम्नलिखित टिप्पणियाँ की गयी हैं– "हमें यह जानकार संतोष हुआ है कि श्री फाइजी ने डॉ. अम्बेडकर जैसे महान व्यक्ति को कार्यभार सौंपा है। एक प्रसिद्ध वकील होने के नाते उन्होंने अर्थशास्त्र का गहराई से अध्ययन किया है, उन्हें संवैधानिक विधि में विशेषज्ञता प्राप्त है, और वे एक ऐसे इंसान हैं, जिन्हें भारत में तथा अन्यत्र भी सभी जानते हैं। उनके बारे में अधिक लिखना व्यर्थ होगा। अपने प्रधानाचार्य से अधिक आशा जताकर हमें उन्हें किसी उलझन में नहीं डालना चाहते। बेहतर होगा कि हम अब प्रतीक्षा करें और देखें।

संपादक

अध्याय 1

अंग्रेजी संविधान पर व्याख्यान

विषय सूची

प्रस्तावना

ये अंग्रेजी संविधान पर व्याख्यान हैं, जो मैंने सरकारी विधि महाविद्यालय बम्बई के छात्रों के समक्ष 1934-35 में दिये थे। इन व्याख्यानों को प्रकाशित कराने में, मैं यह नहीं भूला हूँ कि एक भारतीय के लिए अंग्रेजी संविधान के सिद्धान्तों की व्याख्या करने का प्रयास करना कितना धृष्ट समझा जाएगा। सर आस्टिन चैम्बर लेन ने भारतीय संवैधानिक सुधारों सम्बन्धी संयुक्त समिति के समक्ष उपस्थित हुए कुछ भारतीय साक्षियों से जिरह के दौरान यह टिप्पणी की कि जब कोई साक्षी भारत की परिस्थितियों की बात करता है मैं उसे बड़े आदर के साथ ध्यान से सुनता हूँ। लेकिन जब वह अंग्रेजी संविधान की व्याख्या करता है, तो मैं अपेक्षा करता हूँ कि वह मुझे अपनी राय पर कायम रहने दे।

जो भी हो सर आस्टिन चैम्बर लेन की टिप्पणी मेरे रास्ते में नहीं आ सकती। मैं अपनी ओर से कोई व्याख्या नहीं कर रहा हूँ। मैं इसे अंग्रेजों को नहीं समझा रहा हूँ। मैं केवल डिके के अंग्रेजी संविधान का सरल बना रहा हूँ ताकि भारतीय छात्र उसे समझ सकें और उसका पालन कर सकें। भारतीय छात्रों की दृष्टि से डिके के निबन्ध में दो दोष हैं। इसमें यहाँ मान लिया गया है कि पाठकों को अंग्रेजी संविधान के कुछ भागों की पहले ही जानकारी होगी। उदाहरण के तौर पर इसमें यह मान लिया गया है कि लोगों को यह पूर्व जानकारी है कि संसद क्या है यह कैसे बनती है और यह किस प्रकार काम करती है? अंग्रेज छात्रों के मामले में यह परिकल्पना कितनी ही उचित क्यों न हो, उनके मामले में इसका कोई औचित्य नहीं है जो डिके के निबन्ध को पहली बार पढ़ते हैं। अंग्रेजी संविधान के इस भाग की पूरी जानकारी के बिना भारतीय छात्र बुरी तरह घबरा जाता है। और वे विधि शासन की प्रधानता, अथवा संविधान के कार्यकरण में परम्पराओं की भूमिका जैसे मूलभूत सिद्धान्तों के पूरे महत्त्व को नहीं समझ पाते। यह सुनिश्चित करने के लिए कि भारतीय छात्र इन सिद्धान्तों के महत्त्व के बारे में डिके की व्याख्या को अच्छी तरह समझ सकें, अध्यापक को हर बार अंग्रेजी संविधान का वह ढाँचा छात्रों के सामने प्रस्तुत करना पड़ता है, जिसका डिके के निबन्ध में कोई उल्लेख नहीं है। दूसरे जहाँ तक विधि नियमों और परम्पराओं का सम्बन्ध है, डिके के अंग्रेजी संविधान के अन्तिम संस्करण के प्रकाशित होने के पश्चात अंग्रेजी संविधान में काफी विकास हुआ है। इस विकास का परिणाम दो अलग तरीकों से महसूस किया गया है। इसका एक परिणाम तो यह हुआ है कि डिके ने जो उदाहरण दिये हैं वे बिल्कुल असंगत हो गये हैं। दूसरे, विशेष रूप से डोमीनियनों के साथ राजा/रानी और ब्रिटिश संसद के सम्बन्धों के मामले में ब्रिटिश संविधान के चरित्र में इतना अधिक परिवर्तन हुआ है कि एक भारतीय की जानकारी जो केवल डिके पर निर्भर कता है, अद्यतन नहीं होगी और उसे इसकी बहुत सी बातों की जानकारी नहीं होगी। कुछ सामग्री जोड़ दिये जाने और रूप बदल दिये जाने के अलावा इन व्याख्यानों में कुछ नहीं है। डिके के निबन्ध में जो दोष

हैं उन्हें दूर करने और इसे भारतीय छात्रों की आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने के लिए इन व्याख्यानों द्वारा अंग्रेजी संविधान पर डिके के निबन्ध में संशोधन किया गया है।

I

अंग्रेजी संविधान के आधारभूत सिद्धान्त

डिके के अनुसार तीन सिद्धान्त ऐसे हैं जिनके कारण अंग्रेजी संविधान दूसरे देशों के संविधानों से विशिष्ट हो जाता है। ये सिद्धान्त हैं–

1. संसद की विधायी सर्वोच्चता।
2. विधि के शासन का लागू होना।
3. संविधान का परम्पराओं पर आश्रित होना।

इस कथन पर दो टिप्पणियाँ की जा सकती हैं कि ये सिद्धान्त अंग्रेजी संविधान के विशेष लक्षण हैं। ऐसा इस अर्थ में है कि ये अदृश्य सिद्धान्तों में नहीं मिलते हैं। एक तो यही है। बहरहाल, इनमें से कुछ लक्षण अब इतने सही नहीं रहे, जितने कि वे तब थे, जब डिके ने यह निबन्ध लिखा था। उदाहरण के तौर पर संसद की विधायी सर्वोच्चता वर्ष 1930 में पारित वेस्टमिनिस्टर कानून से कुछ कम और सीमित हो गयी। दूसरी टिप्पणी यह की जा सकती है कि ये लक्षण, विशेष रूप से विधि शासन का लागू होना, और संविधान का परम्पराओं पर आश्रित होना केवल अंग्रेजी संविधान की ही विशेषता नहीं है। परम्परा में सभी संविधानों का लक्षण है और विधि शासन एक अर्थ में किसी न किसी रूप में संयुक्त राज्य में भी है। लेकिन अंग्रेजी संविधान में जिस ढंग से और जिस हद तक इन सिद्धान्तों का समावेश हुआ है, उस हद तक अन्य संविधानों में इनका समावेश नहीं हुआ है। निस्सन्देह इसी अर्थ में, न सिद्धान्तों के कारण, अंग्रेजी संविधान अन्य संविधानों से विशिष्ट है।

(1) संसद की विधायी सर्वोच्चता

अंग्रेजी संविधान के एक सर्वप्रथम और प्रमुख टीकाकार श्री मोन्टेस्क्यू ने अपने अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि अंग्रेजी संविधान में एक ऐसी विशेषता थी, जो जिस समय उसने लिखा उस समय फ्राँस के संविधान में नहीं थी। उसने देखा कि अंग्रेजी संविधान में राज्य के तीन अंग विधायिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका अपनी बनावट तथा कृत्यों की दृष्टि से एक दूसरे से अलग हैं। प्रत्येक का अपना कार्य क्षेत्र है और दूसरे के क्षेत्र में प्रवेश करने का उसे कोई अधिकार नहीं है। जिस समय वह यह टीका लिख रहे थे, उन दिनों अंग्रेजों को जो भी स्वतन्त्रता प्राप्त थी, वह उनके देशवासियों को प्राप्त नहीं थी, इसका कारण उन्होंने अंग्रेजी संविधान की यही विशेषता बतायी। वह अंग्रेजी संविधान के इस सिद्धान्त की खूबी से इतने प्रभावत हुए कि उन्होंने इसे राजनैतिक संगठन के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया और उन्होंने अपने संविधान में इसे सम्मिलित करने की अपने देशवासियों से सिफरिश की। मोन्टेस्क्यू के शक्तियों के पृथक्करण के इस

सिद्धान्त को उसके बाद बने हर नये संविधान का आधार माना गया है। यह इस बात का एक दिलचस्प उदाहरण है कि राजनीति शास्त्र के एक छात्र के गलत निष्कर्षों से देश किस प्रकार गुमराह हो गये क्योंकि इसमें कोई सन्देह नहीं है कि मोन्टेस्क्यू ने अंग्रेजी संविधान को गलत समझा। अंग्रेजी संविधान निश्चित रूप से शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त को मान्यता नहीं देता। राजा विधानमंडल का एक अंग है। न्यायपालिका का प्रमुख है और देश की सर्वोच्च कार्यपालिका शक्ति है। मन्त्री जो राजा के नाम से देश की कार्यपालिका सरकार चलते हैं, वे संसद के सदस्य होते हैं। इस प्रकार कार्यपालिका और विधायिका अलग-अलग नहीं हैं। लार्ड चांसलर न्यायपालिका का कार्यकारी प्रमुख है। वह मंत्रिमंडल का भी सदस्य होता है। इस प्रकार कार्यपालिका और न्यायपालिका भी अलग-अलग नहीं हैं। राज्य के तीन अंग ही अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि इस बयान की भी कोई बुनियाद नहीं है कि उनकी शक्ति संविधान के अन्तर्गत सीमित है क्योंकि अमरीका के लोग इस शब्द का जो अर्थ लेते हैं उस दृष्टि से यह कोई संविधान नहीं है क्योंकि इसमें न तो राज्य के विभिन्न अंगों के कृत्यों का आवंटन किया गया है और न ही उनकी शक्ति का सीमांकन किया गया है। अंग्रेजी संविधान के अन्तर्गत कानून के अनुसार एक सर्वोच्च सत्ता है और वह है संसद। यदि कार्यकारिणी और न्यायपालिका के कृत्य सीमित हैं तो इसका अर्थ यह नहीं है कि संसद के कृत्य आवंटित किये गये हैं जो कुछ संस्थाओं द्वारा एक खास तरीके से पूरे किये जाएँगे। न्यायपालिका और कार्यपालिका की सीमाएँ होने से संसद की शक्तियाँ सीमित नहीं हो जातीं। दूसरी ओर इनकी शक्तियाँ संसद सीमित करती है, अतः संसद को शक्तियाँ बढ़ाने अथवा कम करने का अधिकार है।

संसद की विधायी सर्वोच्चता का अर्थ

संसद की विधायी सर्वोच्चता को पूरी तरह समझने के लिए इसके दो कर्तव्यों को समझना आवश्यक है। पहला यह है कि अंग्रेजी संवधान के अनुसार संसद को कोई भी कानून बनाने अथवा खत्म करने का अधिकार है। दूसरे किसी भी व्यक्ति या व्यक्तियों की संस्था को इंग्लैंड के कानून के अनुसार संसद द्वारा बनाये गये कानून को रद्द करने अथवा समाप्त करने का कोई अधिकार नहीं है। यह याद दिलाना आवश्यक है कि संसद और कानूनी शब्दों का कानूनी दृष्टि से सही अर्थ लगाया जाना चाहिए। जैसा कि पहले बताया गया है, संसद का अर्थ राजा, लाड्र्स और जनता है और इनमें से कोई भी व्यक्तिगत रूप से इस शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता। अतः संसद का कोई अधि नियम बनाने के लिए सभी को संयुक्त रूप से अपनी शक्ति का प्रयोग करना होता है। कानून शब्द का भी कानूनी दृष्टि से सही अर्थ समझ लेना चाहिए। इससे केवल ऐसे नियम अभिप्रेत हैं जो न्यायालयों द्वारा लागू किये जाते हैं। संसद की विधायी सर्वोच्चता का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाने के पश्चात हम यह पूछ सकते हैं कि संसद की इस विधायी सर्वोच्चता का प्रमाण क्या है?

अंग्रेजी संविधान के बारे में जिन कानूनविदों ने लिखा है उन सभी ने विधायी सर्वोच्चता के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। संसद् की शक्तियों तथा अधिकार क्षेत्र के बारे में बोलते हुए, सर एडवड कोक ने यह स्वीकार किया है, कि यह इतनी श्रेष्ठ और विस्तृत है कि इसे किन्हीं उद्देश्यों या व्यक्तियों के लिए, किसी सीमा में नहीं बाँधा जा सकता। विख्यात टीकाओं के लेखक ब्लैकस्टोन इस बात से सहमत हैं कि "संसद को प्राय: सभी प्रकार के लौकिक अथवा अलौकिक, सैनिक, असैनिक, सभ्य, सामुद्रिक या दांडिक विषयों के बारे में कानून बनाने, उनका अनुमोदन करने, विस्तार करने, सीमित करने, रद्द करने, निरस्त करने, पुन: लागू करने और उनकी व्याख्या करने का सार्वभौम और अनियन्त्रित अधिकार है। यह वह स्थान है जिसे वह निरंकुश शक्ति जो सभी सरकारों में कहीं न कहीं होती है, उन राज्य के संविधान द्वारा दी गयी है। सभी प्रविष्टियाँ और शिकायतें, कार्य और उपचार जो सामान्य कानूनों से परे होते हैं, इस असाधारण प्राधिकरण की पहुँच में आते हैं। संसद, राजा के गद्दी पर आरोहण को नियमित कर सकती है जैसा कि हैनरी VIII और विलियम III के शासन में किया गया था। संसद देश के स्थापित धर्म को बदल सकती है जैसा कि हैनरी VIII और उसके तीन बच्चों के शासनकाल में कई मामलों में किया गया। यह सही है कि जो कार्य संसद कर सकती है वह इस पृथ्वी पर कोई शक्ति नहीं कर सकती।"

फ्राँस के एक वकील डेलोम कोक, ब्लैकस्टोन से सहमत हैं। उनका कहना है कि संसद एक औरत को आदमी बनाने और एक आदमी को औरत बनाने के सिवाय कुछ भी कर सकती है। संसद की यह विधायी सर्वोच्चता जिसे सभी वकीलों ने स्वीकार किया है, ब्रिटिश संसद के इतिहास से लिये गये बहुत से दृष्टांतों का हवाला देकर सिद्ध की जा सकती है। इस बारे में निम्न विवरण पर्याप्त होगा।

संसदीय संप्रभुता और संघ के कानून

(1) स्कॉटलैंड और आयरलैंड के साथ संघ के कानून सुलहनामों के रूप में हैं और इनके कुछ खंड हैं, जिनको उस समय संघों की मूलभूत और आवश्यक शर्तें समझा जाता था और जिनके बारे में ये लोग यह समझते थे कि इंग्लैंड की सरकार इन्हें दूर नहीं कर सकती। स्कॉटलैंड के साथ संघ के कानून में यह प्रावधान था कि स्कॉटलैंड के प्रत्येक प्रोफेसर इंग्लैंड के धर्म को अपने धर्म की तरह कबूल करेगा और उसका समर्थन करेगा। इसे स्कॉटलैंड के साथ संघ की संधि की एक मूलभूत शर्त माना गया था। लेकिन स्कॉटलैंड विश्वविद्यालय अधिनियम, 1853 द्वारा इस प्रावधान को निरस्त कर दिया गया है जिससे स्कॉटलैंड के विश्वविद्यालयों के अधिकांश प्रोफेसरों के लिए धर्म को स्वीकार करना आवश्यक नहीं रहा है। आयरलैंड के साथ संघ के कानून में यह शर्त थी कि अब विधि द्वारा यथा स्थापित इंग्लैंड और आयरलैंड के गिरजाघरों को सम्मिलित करके एक प्रोटेस्टेंट एपीस्कोपल चर्च बनाया जाये और जिसे युनाइटेड चर्च ऑफ इंग्लैंड एंड आयरलैंड कहा

जाये और उसमें युनाइटेड चर्च के सिद्धान्त पूजा, अनुशासन उसी तरह लागू रहेंगे जिस तरह कि वे इंग्लैंड के चर्च के लिए यथाविधि स्थापित हैं और इंग्लैंड तथा आयरलैंड के स्थापित चर्च के रूप में उक्त युनाइटेड चर्च को बनाए रखना संघ का एक आवश्यक और मूलभूत कर्तव्य समझा जाएगा और रहेगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शर्त की भाषा से ऐसा प्रतीत होता है कि इसका उद्देश्य संसद की विधायी सर्वोच्चता को सीमित करना था, फिर भी संसद ने 1869 में 'आयरलैंड चर्च अधिनियम' बनाकर आयरलैंड के चर्च को राजकीय संरक्षण से वंचित कर दिया और ऐसा कानून बनाने की इसकी विधायी शक्ति को किसी ने चुनौती नहीं दी।

(2) 1707 का सप्तवर्षीय अधिनियम संसद की विधायी सर्वोच्चता का दूसरा उदाहरण है। 1694 के अधिनियम के अन्तर्गत संसद का कार्यकाल तीन वर्ष कर दिया गया था। वर्ष 1716 में नया चुनाव होना था। तब राजा और मंत्रिमंडल दोनों, इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस समय जो राजनैतिक परिस्थितियाँ देश में व्याप्त हैं, उनमें नया चुनाव करवाना मंत्रिमंडल तथा राज्य के लिए अनर्थकारी होगा और उस समय के मंत्रिमंडल ने संसद को संसद का कार्यकाल 3 वर्ष से बढ़ाकर सात वर्ष करने के लिए कानून बनाने की सलाह दी। आलोचकों ने हाउस ऑफ कॉमन्स पर विश्वास भंग करने का आरोप लगाया, क्योंकि जनता के प्रतिनिधि तथा हाउस ऑफ लॉर्ड्स के सदस्य भी इस आधार पर विरोध में शामिल हो गये क्योंकि इस अधिनियम से लोग सांसदों के विरुद्ध कोई कार्यवाही करने से वंचित हो गये थे और वे अपना कर्तव्य निभाने में असफल रहे थे। इस अधिनियम की राजनैतिक आलोचना होने पर इसके कानूनी अर्थ की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। ऐसा अधिनियम उचित था अथवा अनुचित था यह एक बात थी और संसद अपने कार्यकाल सम्बन्धी कानून को बदल सकती थी या नहीं, यह दूसरी बात थी। ध्यान रहे कि जबकि पहले दृष्टिकोण से अधिनियम का विरोध किया गया, दूसरे दृष्टिकोण से इस पर कभी कोई आपत्ति नहीं की गयी। वास्तव में यह मान लिया गया कि संसद को सप्तवर्षीय अधिनियम बनाने की विधायी शक्ति है।

सप्तवर्षीय अधिनियम का एक अन्य पहलू ध्यान देने योग्य है क्योंकि इससे संसद की विधायी सर्वोच्चता का विस्तार स्पष्ट करने में सहायता मिलती है। संसद, अपना कार्यकाल बढ़ाने के लिए कानून बना सकती थी और यदि इस अधिनियम को भावी सांसदों पर लागू किया गया होता तो कोई आपत्ति नहीं की गयी होती। लेकिन सप्तवर्षीय अधिनियम के द्वारा न केवल सभी भावी सांसदों का कार्यकाल बढ़ाया गया अपितु इसके द्वारा उस संसद का कार्यकाल भी बढ़ा दिया गया, जिसने अधिनियम पारित किया। निस्सन्देह यह राजनैतिक शक्ति हड़पने का कानून था, जिसकी न तो परिकल्पना की गयी थी और न ही कानून द्वारा इस संसद को दी गयी थी, जिसने यह कानून पारित किया। फिर भी

सत्ता हड़पने का यह कानून एक वैध कानून था। यह दिखाने के लिए विधायी दृष्टि से संसद सर्वोच्च थी, भूतकाल में इतनी दूर जाना और सप्तवर्षीय अधिनियम उद्धृत करना अनावश्यक भी है। पर विधायी सर्वोच्चता के बारे में एक ऐसा प्रयोग संसद द्वारा पिछले युद्ध के दौरान भी किया गया था, जब 1914 में विद्यमान संसद ने संसद को भंग करने के बजाय, उसका कार्यकाल बढ़ाने के लिए एक अधिनियम पारित कर दिया था।

क्षतिपूर्ति अधिनियम – ये ऐसे उदाहरण है जो निरन्तर होते रहते हैं और जो संसद की विधायी सर्वोच्चता के बारे में याद दिलाने का काम करते हैं। क्षतिपूर्ति अधिनियम एक ऐसा कानून है जिसका उद्देश्य उन पर कानून के अन्तर्गत लगाये गये दंडों से उन्हें मुक्त कराना है। संसद की विधायी सर्वोच्चता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है, क्योंकि इसका अर्थ एक अवैध कार्य को वैध बनाना है।

निजी अधिकारों में हस्तक्षेप

अधिकांश विधान सभाएँ आम जनता के अधिकारों को नियमित करने तक अपनी विधायी शक्तियाँ सीमित रखती हैं। निजी अधिकारों और घरेलू अधिकारों को इतना विशिष्ट और पवित्र समझा जाता है कि संसद उनमें हस्तक्षेप नहीं करती। लेकिन ब्रिटिश संसद ने अपनी विधायी शक्ति पर इन सीमाओं को स्वीकार नहीं किया है। ड्यूक ऑफ क्लेरेंस और क्लोसेस्टर जब जीवित थे तो भी संसद ने एक अधिनियम बनाकर यह घोषणा कर दी कि उनकी पुत्रियों और पत्नियों को उनकी सम्पत्ति विरासत में मिलनी चाहिए। जहाँ तक ड्यूक ऑफ बकिंघम का सम्बन्ध है, वह नाबालिग था लेकिन संसद ने एक अधिनियम बना दिया जिसमें यह घोषणा कर दी थी कि उसे सभी विधिक प्रयोजनार्थ बालिग समझा जाये। सर रोबर्ट प्लेफिन्स्टन की मृत्यु हो गयी थी, फिर भी उसकी मृत्यु के बहुत दिन पश्चात संसद ने एक कानून पारित किया, जिसमें उसे राजद्रोह का अपराधी माना गया था। मैन्चैस्टर के मारकिन्स का मामला एक ऐसा उदाहरण है, जिसमें संसद ने कानून के द्वारा एक जायज बच्चे को नाजायज घोषित कर दिया। इसका एक विपरीत उदाहरण भी है, जिसमें शादी से पूर्व पैदा हुए नाजायज बच्चे को जायज घोषित किया गया। इस मामले का सम्बन्ध संसद द्वारा पारित उस कानून से है, जो जोहन ऑफ गौंट, ड्यूक ऑफ लानकेस्टर के साथ सम्बन्धों के कारण कैथरीन स्विनफोर्ड द्वारा पैदा हुए बच्चों के बारे में बनाया गया। ड्यूक के साथ सम्बन्धों के कारण कैथरीन के शादी से पूर्व चार नाजायज बच्चे हैनरी, जोहन, थॉमस और एक लड़की जोन हुए। राजा ने चार्टर के रूप में संसद के एक कानून द्वारा इन बच्चों को जायज बना दिया। इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि संसद कानून बनाकर न केवल एक व्यक्ति के प्रेम सम्बन्ध को नियमित कर सकती है, बल्कि सामान्य कानून की दिशा भी बदल सकती है।

II

अध्याय - I

संसद क्या है?

1. इन दिनों बहुत से लोग संसद का अर्थ हाउस ऑफ कॉमन्स लगाते हैं। इसमें हाउस ऑफ लॉर्ड्स और निश्चित रूप से राजा सम्मिलित नहीं हैं। इस जनधारणा का मुख्य कारण यह है कि हाउस ऑफ कॉमन्स अंग्रेजी संविधान के कार्यविधि में बहुत ही प्रमुख तत्त्व बन गया है। लेकिन यह धारणा कितनी ही न्यायसंगत क्यों न हो कानून की दृष्टि से यह गलत धारणा है। कानूनी तौर पर संसद के तीन घटक तत्त्व हैं– राजा, हाउस ऑफ लॉर्ड्स, और हाउस ऑफ कॉमन्स। हर प्रकार की विधायी शक्ति, संयुक्त रूप से राजा, हाउस ऑफ लॉर्ड्स और हाउस ऑफ कॉमन्स के पास है। यह संसद में, राजा के पास निहित है अर्थात उस राजा के पास होती है जो संसद की दोनों सभाओं की सहमति से कार्य करता है। कानूनी तौर पर कोई भी अधिनियम राजा की सहमति के पश्चात ही देश का कानून बन सकता है। संसद के गठन में राजा कितना महत्त्वपूर्ण कारक है यह बात इस तथ्य को ध्यान में रखने से स्पष्ट हो जाएगी कि राजा द्वारा आमन्त्रित किये जाने पर ही संसद की दोनों सभाएँ अपना कार्य कर सकती हैं। वे अपने आप बैठक नहीं बुला सकतीं और अपना कार्य नहीं कर सकतीं। राजा का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है यह इस बात से भी स्पष्ट हो जाएगा कि यह याद रखा जाये कि संसद की सभाओं को आमन्त्रित करने, सत्रों का अवसान करने और सभाओं का विघटन करने की शक्ति, राजा में निहित है और उसके प्रसादपर्यन्त किसी समय इसका प्रयोग किया जा सकता है। दूसरी ओर, सामान्यतया यह सही है कि संसद की दोनों सभाओं की सहमति के बिना राजा को इंग्लैंड में किसी प्रकार का कोई विधान बनाने की शक्ति प्राप्त नहीं है। राजा का कोई भी निर्णय हाउस ऑफ कॉमन्स और हाउस ऑफ लॉर्ड्स की सहमति के बिना कानून नहीं बन सकता जब तक कि किसी अन्य संविधि द्वारा उसे उपबन्धित न किया जाये।

2. यह कथन कि समस्त विधायी शक्ति संसद द्वारा राजा में निहित है और राजा हाउस ऑफ लॉर्ड्स और हाउस ऑफ कॉमन्स की सहमति के बिना कोई कानून पारित नहीं कर सकता, निम्न दो शर्तों के अधीन है–

(1) *राजा का निषेधाधिकार (वीटो)*– "यद्यपि कानून के अनुसार किसी भी प्रक्रिया से कानून बनने से पूर्व उस पर राजा की सहमति प्राप्त करना आवश्यक है, सहमति देने से इंकार करने की उनकी शक्ति, अर्थात उनका वीटो करने का अधिकार उसके दुरुपयोग के कारण असीम हो गया है। पर रानी एने के समय से वीटो के अधिकार का प्रयोग नहीं किया गया है। उन्होंने 1707 के स्काच मिलीशिया विधेयक को स्वीकृति देने से मना कर दिया था। राजा/रानी द्वारा वीटो की उस शक्ति की क्षति विधिक क्षति नहीं है। कानून में उसकी वीटो की शक्ति बिना किसी शर्त के हर मामले में लागू की जा सकती

है। यह सहनशीलता के कारण है जिसका आधार एक परम्परा है जिसके अनुसार यह तय कर लिया जाता है कि जब दो सदन सहमत हो जाते हैं तो राजा/रानी को अपनी स्वीकृति देने से इंकार नहीं करना चाहिए। इसका प्रयोग न करने का अर्थ यह नहीं है क इसका कभी प्रयोग किया ही नहीं जा सकता। मान लें एक मंत्रिमंडल हाउस ऑफ कॉमन्स द्वारा एक विधेयक पारित होने के पश्चात त्याग पत्र दे देता है और हाउस ऑफ लॉर्ड्स नये मंत्रिमंडल के विरोध के बावजूद विधेयक पारित करने पर बल देता है, तो यह कहना अविवेकपूर्ण होगा कि ऐसे मामले में राजा या रानी अपनी स्वीकृति देने से इंकार नहीं करेगा, चाहे दोनों सदनों ने विधान बनाने की सहमति दे दी हो।

(2) *हाउस ऑफ लॉर्ड्स का निषेधाधिकार (वीटो)*– हाउस ऑफ लॉर्ड्स पहले हाउस ऑफ कॉमन्स के बराबर था और इसके पहले कि कोई प्रक्रिया संसद का अधिनियम बने, उस पर हाउस ऑफ कॉमन्स की तरह, हाउस ऑफ लॉर्ड्स की सहमति प्राप्त करना आवश्यक था। यद्यपि कानून के अनुसार यह स्थिति थी, व्यवहार में हाउस ऑफ कॉमन्स ने वित्त के मामलों में अनन्य अधिकार ग्रहण कर लिया था और अन्य विधानों के मामलों में भी अवहेलना का अधिकार प्राप्त कर लिया था। 1671 में हाउस ऑफ कॉमन्स ने निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया– "अगर हाउस ऑफ कॉमन्स द्वारा राजा को कोई कर प्रस्ताव दिये जाते हैं, तो हाउस ऑफ लॉर्ड्स को कर की दर में कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए।" 1676 में हाउस ऑफ कॉमन्स ने एक और प्रस्ताव स्वीकृति किया जो इस प्रकार है– "अनुदान प्रदान करने सम्बन्धी सभी विधेयक हाउस ऑफ कॉमन्स में ही पुंनः स्थापित किये जाने चाहिए और निश्चित रूप से सीमा बाँधना और ऐसे विधेयकों के उद्देश्य, प्रयोजन, शर्तें, सीमाएँ आदि निर्धारित करना केवल हाउस ऑफ कॉमन्स का अधिकार है जिसमें हाउस ऑफ लॉर्ड्स को कोई परिवर्तन नहीं करना चाहिए।"

गैर-वित्तीय किस्म के साधारण विधान में हाउस ऑफ कॉमन्स ने दावा किया कि यद्यपि हाउस ऑफ लॉर्ड्स एवं हाउस ऑफ कॉमन्स से मतभेद हो सकता है, फिर भी जब दोनों सदनों के बीच मतभेद होता है तो हाउस ऑफ लॉर्ड्स को हर स्थिति में हाउस ऑफ कॉमन्स का दावा स्वीकार कर लेना चाहिए। हाउस ऑफ लॉर्ड्स ने स्पष्ट रूप से यह बात कभी स्वीकार नहीं की है, हालांकि व्यवहार में हाउस ऑफ लॉर्ड्स इसका पालन करते हैं। यह प्रथा केवल राजनैतिक सूझबूझ का मामला है। यह एक परम्परा है और इसे विधि का रूप नहीं दिया गया है। कानून के अनुसार हाउस ऑफ लॉर्ड्स को वीटो की शक्ति थी अर्थात हाउस ऑफ लॉर्ड्स किसी वित्तीय या गैर-वित्तीय प्रक्रिया में सहमति देने से इंकार कर सकता था। यह भी शक्ति की कानूनी क्षति का मामला नहीं था। यह इसके प्रयोग में सहनशीलता का मामला था। 1910 में प्रथा के प्रतिकूल हाउस ऑफ लॉर्ड्स ने श्री लॉयड जॉर्ज के बजट में वित्तीय प्रस्तावों की सहमति देने से इंकार करने के अपने अधिकार का प्रयोग करने पर बल दिया। इससे हाउस ऑफ कॉमन्स

और हाउस ऑफ लॉर्ड्स के बीच एक विवाद खड़ा हो गया। इसे 1911 के संसद के अधिनियम द्वारा निपटाया गया। यह अधिनियम अंग्रेजी संविधान के बारे में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विधान है क्योंकि इससे कई मामलों में महत्त्वपूर्ण रूप से हाउस ऑफ लॉर्ड्स की वीटो शक्ति प्रभावित हुई है।

1911 का संसदीय कानून केवल सरकारी विधेयकों के मामलों में ही लागू होता है। यह गैर-सरकारी विधेयकों के मामलों में लागू नहीं होता। गैर -सरकारी विधेयकों के सम्बन्ध में हाउस ऑफ लॉर्ड्स की वीटो शक्ति ज्यों की त्यों बनी हुई है। यद्यपि यह सरकारी विधेयकों के मामले में लागू होती है परन्तु यह उन सब पर लागू नहीं होती। यह ऐसे सरकारी विधेयक पर लागू नहीं होता जो संसद के कार्यकाल को प्रभावित करता है। संसद के कानून के अन्तर्गत हाउस ऑफ कॉमन्स की वीटो शक्ति, ऐसे विधेयकों के मामले में जिसमें यह लागू नहीं होता, हाउस ऑफ लॉर्ड्स की वीटो शक्ति का वही प्रभाव नहीं पड़ता। इसका प्रभाव अलग-अलग होता है। संसद का कानून सरकारी विधेयकों को दो वर्गों में विभाजित करता है: (क) सरकारी विधेयक, जो वित्त विधेयक होते हैं और (ख) सरकारी विधेयक, जो वित्त विधेयक नहीं होते हैं। एक वित्त विधेयक ऐसा सरकारी विधेयक है जिसमें हाउस ऑफ कॉमन्स के अध्यक्ष के मतानुसार निम्नलिखित सभी विषयों अथवा उनमें से किसी विषय के बारे में प्रावधान होते हैं- अर्थात्, कर लगाना, करों का निरसन, करों की माफी, करों में परिवर्तन या करों का विनियमन। ऋणों के भुगतान अथवा समेकित निधि पर प्रभारों के वित्तीय प्रयोजनों हेतु या संसद द्वारा उपबंधित धन पर कर लगाना, ऐसे किसी प्रभार में परिवर्तन करना या ऐसे किसी प्रभार का निरसन करना, सार्वजनिक धन की पूर्ति, विनियोग, प्राप्ति, अभिरक्षा, निर्गम या लेखा परीक्षा, कोई ऋण लेना उसकी गारंटी देना, अथवा उसका शोधन और इनमें से किसी विषय के अधीनस्थ अथवा अनुषंगी मामला। इस कानून में उल्लिखित है, कि यदि कोई वित्त विधेयक हाउस ऑफ कॉमन्स पारित कर देता है और सत्र के समाप्त होने से कम-से-कम एक महीने पहले वह विधेयक हाउस ऑफ लाड्र्स को भेज दिया जाता है और इस प्रकार विधेयक उसे भेजे जाने के पश्चात एक महीने के भीतर, बिना संशोधन के हाउस ऑफ लाड्र्स उस विधेयक को पारित नहीं करता, तो विधेयक यदि हाउस ऑफ कॉमन्स प्रतिकूल निर्देश नहीं देता, महामहिम को प्रस्तुत किया जाएगा और विधेयक को हाउस ऑफ लाड्र्स की सहमति प्राप्त न होने पर भी, राजा की स्वीकृति मिल जाने पर संसद का कानून बन जाएगा।

अन्य सरकारी विधेयकों के सम्बन्ध में 1911 के संसद के कानून में प्रावधान है कि यदि हाउस ऑफ कॉमन्स लगातार तीन सत्रों (उसी संसद में या बाद में) कोई विधेयक पारित करता है और सत्र समाप्त होने से कम-से-कम एक महीने पूर्व, उसे हाउस ऑफ लाड्र्स को भेजता है और प्रत्येक सत्र में हाउस ऑफ लाड्र्स उसे अस्वीकार कर देता है,

तो विधेयक तीसरी बार हाउस ऑफ लाड्र्स द्वारा अस्वीकृत होने पर, यदि हाउस ऑफ कामन्स कोई प्रतिकूल निर्देश नहीं देता, महामहिम को प्रस्तुत किया जाएगा और राजा की स्वीकृति मिल जाने पर वह संसद का कानून बन जाएगा। चाहे हाउस ऑफ लाड्र्स ने उस विधेयक पर सहमति न भी दी हो। परन्तु यह प्रावधान हाउस ऑफ कामन्स के इन सत्रों के पहले सत्र में विधेयक के दूसरे पाठन की तारीख और हाउस ऑफ कॉमन्स द्वारा उन सत्रों के तीसरे सत्र में पारित करने की तारीख के बीच दो वर्ष बीतने तक लागू नहीं होगा।

1911 के संसद के कानून के ये मुख्य प्रावधान हैं। इन्होंने एक धन विधेयक को छोड़कर अन्य सरकारी विधेयक के सम्बन्ध में उस वीटो का चरित्र बदल दिया है और उसे केवल एक विलम्बकारी वीटो बना दिया है जो निर्धारित अवधि के दौरान हाउस ऑफ कॉमन्स द्वारा पारित विधान को केवल रोकने का प्रभाव रखता है। विधान रोकने की शक्ति जो संसद के बराबर सदस्य होने के नाते कभी हाउस ऑफ लाड्र्स को भी प्राप्त थी, अब इस कानून ने छीन ली है।

राजा और लार्डों के प्राधिकार के बारे में इन परम्पराओं और कानूनी कटौतियों के अध्याधीन यह कथन कि संसद के अन्तर्गत राजा (या रानी) हाउस ऑफ लाड्र्स और हाउस ऑफ कॉमन्स आते हैं और उनकी सहमति के बिना कोई विधेयक कानून नहीं बन सकता, आज भी उतना ही सत्य है, जितना कि यह 1911 के अधिनियम से पूर्व था।

III

अध्याय - II

राजसिंहासन

1. **राजा का सिंहासन पर अधिकार–** 1688 के प्रस्ताव से पूर्व, जब जेम्स द्वितीय देश से भाग गया तो यह निश्चित नहीं था कि राजा को सिंहासन का दावा करने का क्या अधिकार है? क्या वह पुश्तैनी है या निर्वाचित। लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उसके पश्चात राजसिंहासन पर अधिकार एक संसदीय अधिकार बन गया है, क्योंकि संसद राजसिंहासन पर आरोहण में परिवर्तन कर सकती है। इस समय राजसिंहासन पर आरोहण का अधिकार वर्ष 1701 में पारित व्यवस्थापित अधिनियम के प्रावधानों द्वारा विनियमित होता है। इस अधिनियम के द्वारा राजसिंहासन पर आरोहण का अधिकार विलयम और उसकी पत्नी मेरी तथा उनकी मृत्यु होने पर, उसके वारिसों को दिया गया था। इस अधिकार से दो शर्तें जुड़ी हुई हैं। पहला – उत्तराधिकारी एक वारिस, पुरुष या नारी, होना चाहिए और दूसरा – उत्तराधिकारी धर्म से प्रोटेस्टेंट ईसाई हो।

2. **राजसिंहासन के अधिकार और कर्तव्य–** राजा के या तो सांविधिक अधिकार होते हैं या विशेषाधिकार होते हैं। सांविधिक अधिकार वे अधिकार हैं जो राजा को

संसद के कानून द्वारा दिये जाते हैं। विशेषाधिकार राजा के परम्परागत या सामान्य विधि अधिकार होते हैं, जिनका वह प्रयोग करता रहा है और जो कानून द्वारा छीने नहीं गये हैं। राजा के सांविधिक अधिकारों और कर्तव्यों के मामले में ऐसा जरूरी नहीं है क्योंकि उनकी सही परिभाषा की जा सकती है और जिस संविधि से वे उद्‌भूत हुए हैं उनका हवाला देकर उनका पता लगाया जा सकता है। दूसरी ओर, किसी संविधि का सन्दर्भ देकर विशेषाधिकार किसी संविधि से उद्‌भूत नहीं होते। राजा के विशेषाधिकार परम्परागत अधिकार हैं और संविधि से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है और अन्य सभी परम्परागत अधिकारों की भाँति उनके स्वरूप और विस्तार की जाँच, जब कभी उनका दावा किया जाता है, विधि न्यायालय द्वारा की जाती है। राजा के विशेषाधिकारों पर निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत चर्चा की जा सकती है–

(क) व्यक्तिगत विशेषाधिकार

1. **राजा कोई गलती नहीं कर सकता–** सभी काम राजा के नाम से किये जाते हैं, लेकिन इस विशेषाधिकार की वजह से राजा अपने किसी काम के लिए जिम्मेदार नहीं है। राजा के रूप में उसकी ओर से जो काम किये जाते हैं, उनके लिए उसके मंत्री जिम्मेदार हैं। अतः राजा द्वारा जो कार्यपालिका सम्बन्धी काम किये जाते हैं उनके लिए उस पर कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता अथवा उसे जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। जब किसी व्यक्ति को संविदा भंग होने के कारण कोई हानि होती है तो वह राजा पर मुकदमा नहीं चला सकता, और न ही वह कोई अन्याय होने पर राजा पर मुकदमा चला सकता है। इस नियम की कठोरता को कम करने के लिए विशेष प्रावधान किया गया है जो सही प्रक्रिया की याचिका के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अन्तर्गत एक अपकृत नागरिक क्षतिपूर्ति के लिए राजा को याचिका दे सकता है और वह याचिका अटार्नी जनरल द्वारा जो राजा का विधि अधिकारी होता है, न्याय देने का आदेश जारी करने पर वादयोग्य हो जाएगी और तभी न्यायालय एक मुकदमे में इसे अर्जीदावा मानकर याचिका पर कार्यवाही कर सकेगा। फिर भी कुछ ऐसे नियम हैं जो यद्यपि प्राइवेट पक्षकारों पर बाध्यकारी हैं परन्तु राजा पर बाध्यकारी नहीं होंगे। उदाहरण के तौर पर यह एक नियम है कि राजा संविदा करके अपने भावी कार्यपालिका कृत्यों में बाधा नहीं डाल सकता है। अतः राजा कभी भी, अपने किसी सेवक को बर्खास्त कर सकता है, फिर चाहे संविदा की अवधि कितनी भी हो, क्योंकि ऐसी संविदा से राजा की भावी कार्यपालिका कृत्य में बाधा आएगी। फलतः राजा का कोई सेवक अधिकार की याचिका द्वारा भी गलत बर्खास्तगी के लिए क्षतिपूर्ति करने हेतु राजा पर मुकदमा नहीं चला सकता।

2. **राजा की कभी मृत्यु नहीं होती–** राजा में अमरत्व का गुण है। ताज पहनने वाले किसी एक व्यक्ति की मृत्यु हो सकती है। लेकिन राजा जीवित रहता है। शासन

करने वाले एक राजा की मृत्यु होने के पश्चात तुरन्त ही उसका राजतन्त्र बिना किसी अन्तराल के उसके वारिसों को प्राप्त हो जाता है। यह कानून है और जनता का यह नारा राजा की मृत्यु हो गयी है, राजा की आयु लम्बी हो – इस कानून के अनुरूप राजसी सत्ता सौंपने के लिए राज्याभिषेक समारोह आवश्यक नहीं है। एक राजा का राज्याभिषेक न हुआ हो तो भी वह राजा के रूप में काम कर सकता है, बशर्ते कि वह पिछले राजा का अगला वारिस हो। राज्याभिषेक समारोह का केवल इतना प्रभाव होता है कि नागरिकों को तथा विश्व को यह मालूम हो जाता है कि राजा कौन है।

3. **समय बीत जाने से राजा का मुकदमा चलाने का अधिकार साधारणतया समाप्त नहीं हो जाता–** दूसरे शब्दों में, परिसीमा कानून साधारण व्यक्ति की तरह राजा पर लागू नहीं होता। साधारण व्यक्ति परिसीमा कानून द्वारा निर्धारित अवधि के भीतर मुकदमा चला सकता है। लेकिन राजा पर समय की कोई पाबन्दी नहीं है। यह कहना कि जहाँ तक मुकदमा चलाने का सम्बन्ध है, इस विशेषाधिकार को सीमित कर दिया जाए। अत: परिसीमा कानून के अन्तर्गत राजा पर समय की जो पाबन्दी लागू होती है उसकी परिसीमा अवधि 60 वर्ष है। अत: राजा को मुकदमा चलाने का जो विशेषाधिकार है वह ज्यों का त्यों बना रहता है।

4. जब राजा के अधिकार और किसी नागरिक के अधिकार में विरोध होता है तो राजा के अधिकार के आगे नागरिकों के अधिकार समाप्त हो जाते हैं।

5. संविधियों में विशेष रूप से राजा का नाम न लिया गया हो, तो वे राजा के लिए बाध्यकारी नहीं है। ताज के असाधारण अधिकार मुकदमा चलाने के लिए अखंड रहते हैं।

(ख) राजनैतिक विशेषाधिकार

इनको दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, जो प्राकृतिक तौर पर आते हैं– वे जो देश की आन्तरिक सरकार से सम्बन्धित हैं और वे जिनका सम्बन्ध विदेशी मामलों से है। जहाँ तक राजा के देश की आन्तरिक सरकार से सम्बन्धित राजनैतिक विशेषाधि कारों का सम्बन्ध है उन पर राज्य कार्यकलाप के तीन भागों – अर्थात कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधायिका के सन्दर्भ में विचार किया जाना चाहिए। अंग्रेजी संवैधानिक विधि के अनुसार कार्यपालिका का नियन्त्रण राजा में निहित है। कार्यपालिका का प्रमुख होना उसका विशेषाधिकार है। ऐसी स्थिति में उसे राज्य के मन्त्री तथा अन्य अधिकारी व राजनैतिक तथा स्थाई नियुक्त करने का अधिकार है। उसे उनको बर्खास्त करने का भी विशेषाधिकार है। वह थलसेना, नौसेना और वायु सेना तथा सिविल सेवा का भी अध्यक्ष है। राज्य की सेवा का निर्वहन करने के लिए नियुक्त हर व्यक्ति उसकी नियुक्ति जैसे भी हो, कानून के अनुसार राजा का सेवक है। जहाँ तक राजा के न्यायिक विशेषाधि कार का सम्बन्ध है, राजा कभी न्याय करने के लिए वास्तव में न्यायालय में बैठता था।

लेकिन अब राजा का यह विशेषाधिकार खत्म हो गया है। राजा कभी कोई न्यायालय बना सकता था और उसे किसी मामले या मुकदमे की सुनवाई करने का अधिकार दे सकता था। चार्ल्स द्वारा स्टार चैम्बर और कोर्ट ऑफ हाई कमीशन की स्थापना इस बात का एक उदाहरण है कि राजा का न्यायिक विशेषाधिकार कितना व्यापक था। लेकिन राजा का यह विशेषाधिकार भी अब समाप्त हो चुका है। राजा अब विशेषाधिकार द्वारा अर्थात संसद की स्वीकृति के बिना सामान्य कानून लागू करने के लिए ही न्यायालय बना सकता है। इस बचे हुए विशेषाधिकार का भी वह अब प्रयोग नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसा करने पर वित्तीय विधान बनाना आवश्यक होगा जिसके लिए संसद की स्वीकृति लेना उसके लिए आवश्यक हो जाएगा। अब उसके केवल चार न्यायिक विशेषाधिकार रह गये हैं– (1) वह सर्वोच्च न्यायालय में अपील करने की अनुमति दे सकता है। (2) वह न्यायाधीशों की नियुक्ति कर सकता है। (3) वह एक अपराधी को क्षमा कर सकता है। (4) वह गवाही देने से इंकार करके अथवा एक औपचारिक 'ग्रोट प्रासू' में सम्मिलित होकर एक अपराधी के अभियोजन का दावा कर सकता है।

जहाँ तक राजा के विधायी विशेषाधिकारों का सम्बन्ध है, कभी ये अधिकार बहुत व्यापक थे, कभी राजा के इतने अधिकार थे कि वह संसद के बिना कानून बना सकता था, विशेष मामलों में कानून निलंबित कर सकता था और सामान्यतया उन्हें समाप्त कर सकता था। अब स्थिति बदल गयी है। अब संसद द्वारा बनाये गये कानूनों को निलंबित करने तथा उन्हें समाप्त करने का अधिकार उनके पास नहीं रहा। राजा के उपनिवेशों को छोड़कर अन्य मामलों में विधान बनाने का अधिकार भी राजा के पास नहीं रहा। राजा के पास जो विधायी विशेषाधिकार रह गये हैं वे हैं– (1) संसद को आमन्त्रित करने, (2) संसद का सत्रावसान करने, (3) संसद भंग करने के विशेषाधिकार।

दो अन्य प्रकार के विशेषाधिकार हैं जो देश के आन्तरिक प्रशासन के बारे में हैं। विदेशी मामलों से सम्बन्धित अन्य प्रकार के विशेषाधिकारों पर विचार करने से पूर्व, इनका उल्लेख आवश्यक है।

चर्च सम्बन्धी विशेषाधिकार– राजा कानून के अनुसार इंग्लैंड के चर्च का सबसे बड़ा अधिकारी है। चर्च का अध्यक्ष होने के नाते वह प्रधानमन्त्री की सिफारिश पर, आर्चबिशप, बिशप तथा चर्च के कतिपय अन्य अधिकारियों की नियुक्ति करता है। अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए राजा, सभा के दोनों सदनों को आमन्त्रित करता है। उनका सत्रावसान करता है और उन्हें भंग करता है। अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए राजा चर्च न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील करने की अनुमति भी प्रदान कर सकता है।

राजस्व सम्बन्धी विशेषाधिकार– ब्रिटिश सरकार का राजस्व दो वर्गों में आता है। (1) सामान्य राजस्व और (2) असाधारण राजस्व। सामान्य राजस्व को विशेषाधिकार राजस्व कहते हैं जो निम्नलिखित स्रोतों से प्राप्त होता है– (1) एक बिशप की धन सम्पत्ति की अभिरक्षा अर्थात बिशप का स्थान खाली होने पर लाभ लेने का राजा का अधिकार, यद्यपि ये लाभ उसके उत्तराधिकार की धरोहर होता है। (2) चर्च के पहले वर्ष के लाभ और दशम लेने के अधिकार। चर्च के पहले वर्ष के लाभ जो पहले पोप को दिये जाते थे बाद में राजा को दिये जाने लगे। दशम, चर्च के वार्षिक लाभ का दसवाँ भाग था जो पहले पोप को दिया जाता था, अब इनका भुगतान रानी एन्ने के गवर्नर को किया जाता है। (3) राजा की भूमि से प्राप्त लाभ। (4) शाही मत्स्यावशेष निधि, चुटपुट, शाही खानों और राजगत सम्पत्ति।

उपरोक्त मदों से राजा को सामान्य राजस्व प्राप्त होता था, जो विशेषाधिकार द्वारा एकत्र किया जाता था और 1715 तक, राजा को दया जाता रहा। 1715 में राजकुल व्यय अधिनियम पारित किया गया। इसके अन्तर्गत राजा और संसद के बीच एक समझौता किया गया, जिसके अन्तर्गत राजा ने अपना विशेषाधिकार राजस्व अपने राज्य को सौंप दिया। तभी से समेकित निधि में भुगतान किया जाता है और संसद इस कार्य के बदले शाही परिवार को अपने भरण–पोषण के लिए निर्धारित राशि देती है। जो समेकित निधि से हर वर्ष ली जाती है और जिसे राजकुल व्यय कहते हैं। राजकुल व्यय कोई स्थाई व्यवस्था नहीं है, अपितु यह सत्ता पर आसीन राजा और संसद के बीच एक स्थाई समझौता है और यह उस राजा के लिए जीवनपर्यन्त चलता है। जब कोई नया राजा उसका स्थान लेता है, तो उसके साथ एक नया समझौता किया जाता है। यह समझौता भी उसके जीवनपर्यन्त चलता है। यदि कोई समझौता नहीं होता है, तो सामान्य राजस्व के सम्बन्ध में राजा को पुनः विशेषाधिकार प्राप्त हो जाता है। राजकुल व्यय व्यवस्था इसे किसी तरह रद्द नहीं करती। इससे केवल राजस्व के विनियोग पर प्रभाव पड़ता है, इससे राजस्व की वसूली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

(ग) देश के विदेशी सम्बन्धों के सम्बन्ध में राजा के विशेषाधिकार

राजा को दूसरे देशों के राजदूतों का स्वागत करने और उनमें अपने राजदूत भेजने का अधिकार है। यह उसका विशेषाधिकार है। यह अधिकार महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि जिन राजदूतों को राजा द्वारा राजदूत के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है उन्हें दीवानी और फौजदारी मुकदमों से उन्मुक्ति प्राप्त है। इन उन्मुक्तियों पर विस्तार से बाद में विचार किया जाएगा। यहाँ यह बताना पर्याप्त होगा कि वे राजा द्वारा एक व्यक्ति को एक राजदूत के रूप में मान्यता देने पर निर्भर करती है और वह मान्यता राजा का विशेषाधि कार है। राजा को युद्ध तथा शान्ति करने का भी अधिकार है। वह जब कभी उपयुक्त

समझे, युद्ध अथवा शान्ति स्थापित कर सकता है। यह भी राजा का विशेषाधिकार है। राजा को किसी दूसरे राष्ट्र से सन्धि करने का अधिकार है। यह सन्धि राजनैतिक अथवा वाणिज्यिक सन्धि हो सकती है। यह उसका विशेषाधिकार है। राजा के सन्धि करने के विशेषाधिकार पर केवल यह प्रतिबन्ध है कि वह विधि द्वारा नागरिकों को दिये गये अधिकारों को किसी तरह प्रभावित न करे।

राजा के विशेषाधिकार के प्रश्न के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं और उनकी उपेक्षा करके उन पर विचार न करना वांछनीय नहीं होगा। पहला प्रश्न यह है कि राजा के विशेषाधिकारों का संसद के अधिकारों से ठीक-ठीक क्या सम्बन्ध है? दूसरा प्रश्न यह है कि अगर राजा अपने विशेषाधिकार या अन्य सांविधिक अधिकारों का प्रयोग करने के अयोग्य हो जाता है तो क्या होता है? पहले प्रश्न पर विचार करते समय यह समझ लेना आवश्यक है कि जब यह कहा जाता है कि राजा को यह या वह या कोई अन्य कार्य करने का अधिकार है तो इसका ठीक-ठीक क्या अर्थ होता है? इस अभिव्यक्ति से क्या अभिप्रेत है कि जब राजा अपने विशेषाधिकार के अनुसार कार्य करता है, तो उसे संसद की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं होती। उसे अपना अधिकार जन्म से मिला है और संसद के क्षेत्राधिकार से बाहर है। लेकिन यद्यपि यह सही है कि राजा की विशेषाधिकार की शक्ति जन्मजात है और संसद के क्षेत्राधिकार से बाहर है परन्तु इससे यह नहीं मान लिया जाना चाहिए कि इस कारण वह संसद के नियन्त्रण से बाहर है। दूसरी ओर, राजा की विशेषाधिकार की शक्ति का संसद द्वारा विनियमन संशोधन अथवा निरसन किया जा सकता है। इस प्रकार सही स्थिति यह है कि राजा के पास विशेषाधिकार की शक्ति तब तक रहती है जब तक संसद कानून बनाकर उसमें हस्तक्षेप नहीं करती। मान लो कि कोई विशेषाधिकार का मामला है और संसद द्वारा बाद में कानून बनाकर उसे नियमित किया जाता है, तो राजा अपनी विशेषाधिकार शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकेगा, लेकिन उस कानून के अन्तर्गत काम कर सकता है जिसने विशेषाधिकार का स्थान लिया है। अतः जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, निष्कर्ष यह है कि राजा का विशेषाधिकार तब तक उसके लिए स्वतन्त्र शक्ति का स्रोत है, जब तक कि संसद उसके अस्तित्व में हस्तक्षेप नहीं करती।

राजा अपने विशेषाधिकार तथा सांविधिक अधिकारों का प्रयोग करने के अयोग्य हो जाये तो क्या होता है? अब यह बेकार का प्रश्न नहीं है क्योंकि राजसी कार्यालय से कुछ महत्त्वपूर्ण कर्तव्य जुड़े हुए हैं और राजा उनका निर्वहन करने के अयोग्य हो सकता है। अयोग्यता की चार सम्भावनाओं की कल्पना की जा सकती है। (1) राजा अपने राज्य से अनुपस्थित हो सकता है। (2) राजा अवयस्क हो सकता है। (3) राजा पागल हो सकता है। (4) राजा, नैतिक दृष्टि से अयोग्य हो सकता है।

राजा की राज्य से अनुपस्थिति से कोई बहुत बड़ी कठिनाई नहीं हो सकती। संचार

के आधुनिक माध्यमों से दूरी दूर हो गयी है। अतः राजा दूर रहकर भी, तेजी से और बिना किसी विलम्ब के अपने राजसी कर्तव्यों का निर्वहन कर सकता है। राजा अपनी शक्तियाँ किसी दूसरे व्यक्ति को भी प्रत्यायोजित कर सकता है जो उसके दूर होने पर उसकी ओर से उनका प्रयोग कर सकता है। जहाँ तक कानून का सम्बन्ध है, राजा के अवयस्क होने से कोई कठिनाई पैदा नहीं होती। कानून के अनुसार राजा कभी नाबालिग नहीं होता और वह अवयस्क होने पर भी कारोबार कर सकता है। अतः एक अवयस्क राजा अपनी सभी शक्तियों का प्रयोग कर सकता है और कानूनी तौर पर अपने सभी कर्तव्यों का निर्वहन कर सकता है। सामान्यतया यदि यह सम्भव हो कि राजा की मृत्यु होने पर उसका वारिस नाबालिग होगा तो, संसद एहतियात के तौर पर विधि द्वारा एक रीजेंट नियुक्त करती है। लेकिन ऐसा विवेक के आधार पर किया जाता है, कानून के अनुसार ऐसा करना आवश्यक नहीं है।

पागलपन से स्थिति गम्भीर हो जाती है। राजा पागल हो तो वह अपनी शक्तियाँ प्रत्यायोजित नहीं कर सकता। संसद कानून बनाकर रीजेंट की नियुक्ति नहीं कर सकती क्योंकि पागल होने के कारण राजा विधेयक पर अपनी स्वीकृति नहीं दे सकता। ऐसे दो उदाहरण हैं, जब अंग्रेज राजा सत्ता में रहते हुए पागल हो गए थे। 1454 में हेनरी VI और 1788 में जॉर्ज III। उस समय जो प्रक्रिया अपनायी गयी वह अशिष्ट थी पर निश्चित रूप से यह समझा जा सकता है कि वह संविधान के कानून के अनुरूप थी जिसके अनुसार संसद के तीनों अंगों की सहमति आवश्यक है। राजा की नैतिक अयोग्यता एक और कठिन स्थिति है। यह मानकर कि लोग उसे नहीं चाहते तो क्या राजा त्यागपत्र दे सकता है? यदि राजा त्यागपत्र नहीं देता, तो क्या उसे पद से हटाया जा सकता है? राजा की पागलपन और नैतिक अयोग्यता का नियमन करने के लिए कोई कानूनी प्रावधान नहीं है। सरकार के जिम्मेदार रहने के कारण अंग्रेजी संविधान के अन्तर्गत सम्भवतया नैतिक अयोग्यता का प्रश्न नहीं खड़ा होना चाहिए, पर पागलपन का तो होगा ही।

राजा की मृत्यु का प्रभाव

1. संसद पर

मूल नियम यह था कि राजा की मृत्यु होने पर संसद अपने आप भंग हो जाती थी। जिस संविधान और सिद्धान्त के आधार पर ऐसा किया जाता था वह यह था कि संसद सदस्यों को राजा का सलाहकार समझा जाता था जो उन्हें आमन्त्रित करता था। आमन्त्रित करने के कर्तव्य, जो राजा द्वारा किया जाता था और सदस्यों के बीच जो आमन्त्रित किये जाने पर समवेत होते थे, निजी सम्बन्ध समझा जाता था और यह बन्धन राजा की मृत्यु पर टूट जाता था। मृत राजा द्वारा आमन्त्रित सदस्यों को ऐसी स्थिति में नये राजा के सलाहकार नहीं कहा जा सकता था और राजा को नये सलाहकारों को आमन्त्रित

करने का अधिकार था और यह तभी सम्भव था जब पुरानी संसद भंग हो और नये राजा को नयी संसद के आमन्त्रित करने का अधिकार हो। इस नियम में पहली बार विनियम तीन द्वारा अध्याय 15 में संशोधन करके परिवर्तन किया गया और यह प्रावधान किया गया कि राजा की मृत्यु के पश्चात उसके उत्तराधिकारी द्वारा संसद को तुरन्त भंग कर दिया जाता तो संसद छः महीने के लिए काम करेगी। तत्पश्चात 1867 में (30, 31 विक्टोरिया, अध्याय दो, 102) इस नियम को बिल्कुल रद्द कर दिया गया और संसद के कार्यकाल का राजा की मृत्यु से कोई सम्बनध नहीं रहा।

2. पदावधि पर

मूल नियम यह था कि सभी कार्यकारी अधिकारियों को राजा की मृत्यु पर अपने कार्यालय खाली करने होते थे। यही कारण है कि राजा की मृत्यु पर संसद भंग हो जाती थी। इस मामले में भी कानून ने सिद्धान्त को धीरे-धीरे बदल दिया है 1707 के राजसिंहासन पर आरोहण अधिनियम द्वारा कार्यपालिका के अधिकारियों का कार्यकाल बढ़ाकर राजा की मृत्यु के पश्चात छः महीने तक कर दिया गया। बाद में पारित एक और अधिनियम द्वारा अवधि पुनः बढ़ाई गयी और अन्ततः 1901 के राजा की मृत्यु अधिनियम के अन्तर्गत पदावधि का, राजा की मृत्यु से सम्बन्ध समाप्त कर दिया गया।

IV

अध्याय -III

हाउस ऑफ लॉर्ड्स

हाउस ऑफ लॉर्ड्स में तीन विभिन्न वर्गों के अभिजात होते हैं– 1. इंग्लैंड और यू.के. के पुश्तैनी अभिजात, 2. प्रतिनिधि अभिजात तथा 3. पदेन अभिजात। हाउस ऑफ लॉर्ड्स के गठन को समझने के लिए सर्वप्रथम जो प्रश्न उठाया जाना चाहिए और जिसका उत्तर दिया जाना चाहिए वह है कि अभिजातों को हाउस ऑफ लॉर्ड्स में बैठने का क्या हक है?

इंग्लैंड और युनाइटेड किंगडम के अभिजात

इंग्लैंड और युनाइटेड किंगडम के अभिजातों को हाउस ऑफ लॉर्ड्स में बैठने का हक इसलिए है क्योंकि राजा प्रत्येक अभिजात को आने और संसद में उपस्थित होने के लिए अलग-अलग निमन्त्रण पत्र भेजता है। इंग्लैंड के अभिजात वर्ग की स्थापना राजा द्वारा अधिकार पत्रों के आधार पर की जाती है। अतः अधिकार पत्रों के आधार पर बने अभिजात व्यक्तियों के सम्बन्ध में कोई कठिनाई नहीं होती। प्रश्न केवल उठता है कि क्या राजा किसी को आजीवन अभिजात बना सकता है। कभी यह मामला विवादास्पद था

और विवाद यह था कि क्या राजा द्वारा जीवन भर के लिए बनाये गये किसी अभिजात को हाउस ऑफ लॉर्ड्स में बैठने का अधिकार है? लेकिन अन्ततः यह मामला 1856 के वेनेसडेल अभिजात वर्ग के मामले द्वारा सुलझ गया, जिसमें दो निर्णय लिये गये। (1) कि राजा को आजीवन या पुश्तैनी किसी प्रकार का अभिजात बनाने का अधिकार है लेकिन (2) आजीवन अभिजात, हाउस ऑफ लाड्र्स के एक सदस्य के रूप में सभा में नहीं बैठ सकता और राजा ऐसे अभिजात को निमन्त्रण पत्र नहीं भेज सकता है। इसका कारण यह बताया गया कि अभिजात का पुश्तैनी चरित्र विधि के आधार पर नहीं तो प्रथा के आधार पर अभिजात वर्ग का एक अभिन्न अंग है और यद्यपि राजा को एक अभिजात वर्ग बनाने का अधिकार है, उसे किसी प्रथा को समाप्त करने का अधिकार नहीं है। उन अभिजातों को क्या अधिकार है जो अधिकार पत्रों के आधार पर अभिजात नहीं बनते हैं। उन्हें भी राजा के निमन्त्रण पत्रों के आधार पर यह अधिकार मिल जाता है।

ऐसे अभिजातों को निमन्त्रण पत्र भेजने के बारे में दो प्रश्न चिरकाल से उठाए जाते रहे हैं। क्या हर अभिजात ऐसे निमन्त्रण पत्रों की माँग कर सकता है? क्या राजा को किसी अभिजात को निमन्त्रण पत्र भेजने अथवा न भेजने की छूट है? अभिजात वर्ग की ओर से तर्क दिया गया कि केवल वे अभिजात जो बैरोनी के अनुसार अपनी सेवा अवधि के लिए अभिजात बनते हैं, निमन्त्रण के अधिकारी हैं और राजा इनके अतिरिक्त किसी अन्य अभिजात को आमन्त्रण नहीं भेज सकता है। दूसरी ओर राजा की ओर से यह तर्क दिया गया कि निमन्त्रण पत्र बैरोनी द्वारा अभिजातों को दिया गया कोई विशेषाधिकार नहीं है और न ही अभिजातों को आमन्त्रण पत्र भेजने के अधिकार की कोई सीमा है। अंततः यह विवाद हल कर लिया गया और अब ऐसे दो नियमों का उल्लेख किया जा सकता है जो उन अभिजातों को निमन्त्रण पत्र भेजने के मामले में लागू होते हैं जिनका अभिजात होना अधिकार पत्रों से सिद्ध नहीं होता। 1. बैरोनी द्वारा उल्लिखित सेवा अवधि के आधार पर राजा से रिट की माँग नहीं की जा सकती। 2. राजा के लिए ऐसे व्यक्ति के, जिनसे कभी रिट प्राप्त की हो, और उसके अनुसार उस सभा में अपना स्थान ग्रहण किया हो, के वंशज को हाउस ऑफ लाड्र्स में बैठने के लिए रिट द्वारा आमन्त्रित करना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, यदि यह सिद्ध किया जा सके कि किसी व्यक्ति ने राजा से रिट प्राप्त की थी तो उसका वंशज चाहे वह कितना ही दूर का हो और चाहे जो भी अन्तराल हो, पुश्तैनी अधि कार के आधार पर उसी प्रकार की रिट का दावा कर सकता है। अतः अंग्रेजी अभिजात वर्ग को पुश्तैनी अधिकार के आधार पर राजा से निमन्त्रण प्राप्त करने और हाउस ऑफ लाड्र्स का सदस्य होने का अधिकार है। 3. यद्यपि यह अधिकार पुश्तैनी अधिकार है परन्तु यह दो नियमों के अध्याधीन है। (1) ज्येष्ठता का नियम, (2) पुरुष-वंशज का नियम।

प्रतिनिधि अभिजात

प्रतिनिधि अभिजात दो वर्गों में आते हैं। स्कॉटलैंड के प्रतिनिधि अभिजात और आयरलैंड के प्रतिनिधि अभिजात। स्कॉटलैंड के प्रतिनिधि अभिजातों को 1707 में इंग्लैंड और स्कॉटलैंड के बीच हुए सम्मिलन की सन्धि के आधार पर यह हक मिला है, जिसके आधार पर वे एक देश और एक राजा के अधीन आ गये और जिसका नाम युनाइटेड किंगडम ऑफ ग्रेट ब्रिटेन हो गया। इंग्लैंड के साथ उसके सम्मिलन से पहले स्कॉटलैंड का अपने अभिजात वर्ग के साथ 1800 में सम्मिलन हुआ था। स्कॉटलैंड की तरह आयरलैंड का भी अपना अभिजात वर्ग था जिसे आयरलैंड की पुरानी संसद में बैठने का पुश्तैनी अधिकार था इंग्लैंड के साथ सम्मिलन की सन्धियों के आधार पर आयरलैंड और स्कॉटलैंड का एकीकरण होने के पश्चात यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ कि स्कॉटलैंड और आयरलैंड के पुराने अभिजातों को ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड की नयी संसद में कितना प्रतिनिधित्व दिया जाये? इंग्लैंड के अभिजातों ने दावा किया कि सभी अंग्रेज अभिजातों को नयी संसद में बैठने का अधिकार दिया जाये। स्कॉटलैंड और आयरलैंड के अभिजातों ने भी अपने वर्ग के सभी सदस्यों के लिए ऐसे अधिकार की माँग की।

अत: जो समझौता हुआ उसमें यह तय हुआ। (1) कि इंग्लैंड के हर अभिजात को नई संसद में बैठने दिया जाये। (2) स्कॉटलैंड के अभिजात को अपने अभिजात वर्ग से नई संसद में अपने प्रतिनिधियों के रूप में 16 सदस्य चुनने की अनुमति दी गयी। (3) आयरलैंड के अभिजातों को अपने अभिजात वर्ग से 28 अभिजातों का चयन करने की अनुमति दी गयी। स्कॉटलैंड के अभिजात एक संसद की कालावधि के लिए चुने जाते हैं। जब संसद भंग होती है तो स्कॉटलैंड के अभिजात वर्ग द्वारा स्कॉटलैंड के 16 नये अभिजातों का निर्वाचन किया जाता है। दूसरी ओर आयरलैंड के प्रतिनिधि पूरे जीवन के लिए अभिजात निर्वाचित किए जाते हैं, और संसद के भंग होने पर आयरलैंड के अभिजातों के लिए कोई नया निर्वाचन नहीं होता। कोई नया निर्वाचन तभी होता है जब मृयु के कारण अथवा कोई अन्य निरर्हता के कारण आयरलैंड के किसी प्रतिनिधि अभिजात का स्थान खाली हो जाता है।

एकीकरण के समय से पूर्व विद्यमान इन प्राचीन क्षेत्रीय अभिजात वर्गों के अतिरिक्त एक चौथा अभिजात वर्ग भी बनाया गया था जो युनाइटेड किंगडम के अभिजात के नाम से जाने जाते थे। इन्हें हाउस आफ लाड्र्स में बैठने का अधिकार था। राजा, स्कॉटलैंड के अभिजात की उपाधि दे सकता था। उस स्थिति में यदि अभिजात की उपाधि पुश्तैनी है तो वह अभिजात आयरलैंड और स्कॉटलैंड के साथ सम्मिलन की सन्धि होते हुए भी हाउस ऑफ लाड्र्स में बैठने का अधिकारी होता था।

पदेन अभिजात

हाउस ऑफ लाड्र्स में बैठने वाले पदेन अभिजात दो वर्गों से आते हैं। (1) आध्यात्मिक लाड्र्स और (2) साधारण अपीलीय लाड्र्स। विधि छब्बीस के अनुसार चर्च के अधिकारियों को हाउस ऑफ लाड्र्स में बैठने का अधिकार है। इनमें से कैंटरबरी और योर्क के आर्कबिशपों और लंदन और दुर्हम और विनचेस्टर के बिशपों को आध्यात्मिक लॉड्र्स के रूप में हाउस ऑफ लाड्र्स में बैठने का अधिकार है। शेष 21 आध्यात्मिक अभिजातों में से 21 धर्म प्रदेशीय बिशप, नियुक्ति की वरिष्ठता के क्रम में हाउस ऑफ लाड्र्स में बैठ सकते हैं। इस प्रकार यदि इन 21बिशपों में से किसी बिशप की मृत्यु हो जाती है या कोई बिशप त्यागपत्र दे देता है तो हाउस ऑफ लॉड्र्स में उसका स्थान उसका उत्तराधिकारी नहीं लेता है, अपितु अगला वरिष्ठ धर्मप्रदेशीय बिशप लेता है।

साधारण अपीलीय लॉड्र्स

हाउस ऑफ लॉड्र्स संसद का उच्च सदन होने के अलावा एक न्यायालय भी है। यह अधिकांश प्रयोजनों के लिए इंग्लैंड, स्कॉटलैंड और आयरलैंड में राजदरबारों से अपील का अन्तिम और सर्वोच्च न्यायालय है। यह न्यायिक कृत्य हाउस ऑफ लॉड्र्स का काम है। अत: सभा के समक्ष इसकी न्यायिक क्षमता में लायी गयी किसी अपील पर निर्णय करने के काम में भाग लेने से संसद के अभिजात को कोई नहीं रोक सकता। हाउस ऑफ लॉड्र्स मुख्य रूप से साधारण अभिजातों की एक ऐसी संस्था थी, जिन्हें कानून की पेचीदगियों के बारे में में कोई जानकारी नहीं थी और जिन्हें कोई कानूनी प्रशिक्षण प्राप्त नहीं था। ऐसी संस्था को उच्चतम न्यायालय के कृत्यों का निर्वहन करने की अनुमति देने से न्याय को काफी खतरा था। तथापि हाउस ऑफ लॉड्र्स से यह अधिकार पूर्णतया छीन लेना सम्भव नहीं था। समझौते के तौर पर अपीलीय क्षेत्राधिकार अधिनियम नामक 1876 का अधिनियम पारित किया गया। इसके अन्तर्गत हाउस ऑफ लॉर्ड्स अन्तिम अपीलीय न्यायालय तो बना रहा, लेकिन इसमें यह प्रावधान किया गया कि हाउस ऑफ लॉड्र्स द्वारा तब तक किसी अपील की सुनवाई नहीं की जाएगी तथा उसका अवधारण नहीं किया जाएगा, जब तक कि ऐसी सुनवाई तथा अवधारणा के समय कम-से-कम तीन अपीलीय लॉर्ड उपस्थित न हों। अपीलीय लॉड्र्स में शामिल होते हैं– (1) तत्कालीन लॉर्ड चांसलर, (2) सभा के ऐसे लॉड्र्स जो उच्च न्यायिक पदों पर आसीन रहे हों और (3) राजा द्वारा नियुक्त किये गये असाधारण अपीलीय लॉड्र्स।

1876 के अपीलीय क्षेत्राधिकार अधिनियम के अन्तर्गत राजा को हाउस ऑफ लॉड्र्स में बैठने के लिए असाधारण अपीलीय लॉड्र्स की नियुक्ति करने का अधिकार दिया गया। इस अधिनियम में यह भी प्रावधान किया गया कि वे अपीलीय लॉर्ड तब तक अभिजात रहेंगे जब तक कि वे अपीलीय लॉर्ड के रूप में अपने न्यायिक कृत्यों का

निर्वहन करते रहेंगे। तथापि 1887 में यह प्रावधान बदल दिया गया और अब असाधारण अपीलीय लॉर्ड आजीवन अभिजात रह सकता है।

हाउस ऑफ लॉर्ड्स के गठन के बारे में बताने के पश्चात अब हम इससे सम्बन्धित कुछ प्रश्नों पर विचार करेंगे। पहला प्रश्न है– हाउस ऑफ लॉर्ड्स में बैठने का इन अभिजातों को क्या अधिकार है? अभिजातों को हाउस ऑफ लॉर्ड्स में बैठने का अधि कार इसलिए नहीं है कि वे चुन कर आते हैं जैसा कि हाउस ऑफ कॉमन्स के सदस्यों के मामले में होता है। उन्हें यह अधिकार उन आमन्त्रण पत्रों से मिलता है जो प्रत्येक अभिजात को आने और संसद में उपस्थित रहने के लिए अलग–अलग भेजे जाते हैं। यह एक प्रकार से राजा द्वारा नामांकन है, यद्यपि मनोनीत करने की शक्त पूरी तरह नियन्त्रित है और राजा को स्वविवेक से एक संसद से दूसरी संसद में नामांकन की प्रक्रिया को रद्द करने अथवा उसमें परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है।

यद्यपि अभिजात का अधिकार राजा द्वारा जारी किये जाने वाले आमन्त्रण पत्र पर आधारित है, अभिजातों को आमन्त्रित करने के राजा के अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। एक विदेशी अभिजात अर्थात ऐसा अभिजात जो ब्रिटेन का नागरिक नहीं है, संसद में बैठने के लिए आमन्त्रित नहीं किया जा सकता।

दूसरा प्रश्न जिस पर विचार किया जाना चाहिए, अभिजात की उपाधि के लिए ग्राह्यता और अभिजात द्वारा अपनी उपाधि छोड़े जाने के बारे में है। अभिजात की उपाधि अहस्तांतरणीय पद है और इस अधिकार को किसी अन्य को बिक्री या उपहार द्वारा हस्तांतरित नहीं किया जा सकता है। दूसरा व्यक्ति पैतृक नियमों के अनुसार उत्तराधिकारी द्वारा इसका दावा कर सकता है। अभिजात अपनी उपाधि नहीं छोड़ सकता और यह नहीं कह सकता कि अब वह अभिजात नहीं रहा है। अभिजात की उपाधि के मामले में जो नियम लागू होता है वह यह है कि एक बार अभिजात, तो सदैव के लिए अभिजात।

तीसरा प्रश्न अभिजात वर्ग और हाउस ऑफ लॉर्ड्स के बीच के अन्तर से सम्बन्धित है। आमतौर पर राज्य के अभिजात का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है। कानूनी तौर पर इन दोनों में अन्तर है। एक व्यक्ति राज्य का अभिजात हो सकता है, पर हाउस ऑफ लॉर्ड्स का सदस्य नहीं हो सकता। आजीवन अभिजात इसका एक उदाहरण है। आजीवन अभिजात राज्य का अभिजात है, फिर भी वह हाउस ऑफ लॉर्ड्स का सदस्य नहीं हो सकता क्योंकि नियम यह है कि जो पदेन अभिजात न होकर अन्यथा अभिजात है उसे पुश्तैनी अभिजात होना चाहिए ताकि हाउस ऑफ लॉर्ड्स में बैठने का अधिकार प्राप्त कर सके। इसके विपरीत एक व्यक्ति हाउस ऑफ लॉर्ड्स का सदस्य हो सकता है यद्यपि वह पुश्तैनी अभिजात नहीं है। आध्यात्मिक लॉर्ड्स और असाधारण अपीलीय लॉर्ड्स का मामला इसका एक और उदाहरण है। आर्क बिशप एवं बिशप और असाधारण अपीलीय लॉर्ड,

हाउस ऑफ लॉर्ड्स में बैठने के लिए राजा से आमन्त्रण प्राप्त करने के अधिकारी हैं। आर्क बिशप और बिशप तब तक इसके अधिकारी हैं जब तक वे अपने पद पर रहते हैं और असाधारण अपीलीय लॉर्ड आजीवन इसके अधिकारी रहते हैं। फिर भी वे शब्द के कानूनी अर्थों में अभिजात नहीं हैं, क्योंकि अभिजात से पुश्तैनी अधिकार की झलक आती है।

V

ब्रिटिश संसद के लार्ड तथा सामान्य सदस्यों की शक्तियाँ तथा विशेषाधिकार

संसद के दोनों सदन को सामूहिक रूप से संसद के संघटक अंग होने के नाते कुछ विशेषाधिकार प्राप्त हैं। ये विशेषाधिकार उनकी सत्ता की पुष्टि करने और उनके कृत्यों के सही निष्पादन के लिए आवश्यक हैं। संसद के दोनों सदनों के सदस्यों के रूप में सामूहिक रूप से प्राप्त विशेषाधिकारों के अलावा अन्य विशेषाधिकार भी हैं जो सामूहक सदस्यों को निजी तौर पर प्राप्त हैं। ये अधिकार उन्हें अपनी रक्षा और अपनी आजादी तथा गरिमा की सुरक्षा के लिए दिये गये हैं।

भाग-I

संसद के विशेषाधिकार

1. हाउस ऑफ कॉमन्स के विशेषाधिकार– बाहरी व्यक्तियों को अन्दर न आने देना और बन्द कमरे में वाद-विवाद करना हाउस ऑफ कॉमन्स का एक विशेषाधि कार है। इस विशेषाधिकार का उद्‌भव दो अलग परिस्थितियों में हुआ है। इस परिस्थिति का सम्बन्ध हाउस ऑफ कॉमन्स में सदस्यों के लिए बैठने की व्यवस्था से है। यह व्यवस्था इतनी दोषपूर्ण थी कि बाहरी व्यक्ति और संसद के सदस्य एक साथ मिल जाते थे। इसका परिणाम यह होता था कि मत विभाजन के समय सदस्यों के साथ बाहरी व्यक्तियों की भी प्राय: गिनती कर ली जाती थी। इसे रोकने के लिए सभा ने माँग की कि बाहरी व्यक्तियों को अन्दर न आने दिया जाये। दूसरी परिस्थिति का सम्बन्ध हाउस ऑफ कॉमन्स के सदस्यों पर राजा द्वारा की जाने वाली जासूसी की प्रणाली से था। चूँकि उन दिनों सभा में सदस्यों के भाषणों का वृत्तान्त तैयार करने की व्यवस्था ठीक नहीं थी और राजा की आकांक्षा यह जानने की थी कि उसके मित्र कौन हैं और उसके शत्रु कौन हैं, राजा ने जासूस नियुक्त किये जिनका काम सभा में सदस्यों द्वारा दिये गये भाषणों की जानकारी राजा को देना था। इसके अनुसरण में राजा द्वारा सदस्यों को भयभीत किया जाता था और अन्य तरीकों से उनके प्रति अप्रसन्नता का प्रदर्शन किया जाता था जिससे सदस्यों की स्वतन्त्रता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था। राजा की जासूसी से अपनी रक्षा करने के लिए सभा के पास एकमात्र उपाय यह था कि बाहरी व्यक्तिय के अन्दर आने पर रोक लगा दी जाये।

इस विशेषाधिकार का उद्देश्य बाहरी व्यक्तियों के सभा में आने और वाद-विवाद सुनने पर रोक लगाना नहीं था। वास्तव में वे सभा में आते थे और वाद-विवाद सुनते थे। इस विशेषाधिकार का प्रभाव यह हुआ कि यदि किसी सदस्य के ध्यान में यह आ जाता था कि वे उपस्थित हैं तो अध्यक्ष को उन्हें बाहर जाने का आदेश देना पड़ता था। इसे लागू करने में असुविधा होती थी क्योंकि केवल एक सदस्य द्वारा बाहरी व्यक्तियों की उपस्थिति पर आपत्ति किया जाना उन्हें बाहर जाने का आदेश देने हेतु अध्यक्ष को बाध्य करने के लिए पर्याप्त था। अतः 1875 में सभा के एक प्रस्ताव द्वारा इस नियम को बदल दिया गया और यह प्रावधान किया गया कि यदि किसी सदस्य को बाहरी व्यक्ति दिखाई देता या तकनीकी भाषा में यों कहें कि सदस्य उठ कर अध्यक्ष को यह बताता है कि महोदय मुझे बाहरी व्यक्ति दिखाई दे रहा है तो अध्यक्ष तुरन्त सभा के समक्ष यह प्रश्न रखेगा कि वाद-विवाद की इजाजत दिये बिना अथवा कोई संशोधन किये बिना बाहरी व्यक्तियों को बाहर जाने का आदेश दिया जाये और इस पर सभी की राय लेगा और तदनुसार कार्यवाही करेगा। इस प्रस्ताव से बाहरी व्यक्तियों को निकालने का विशेषाधिकार तो सभा के पास बना रहा, लेकिन इसका प्रयोग सभा के किसी एक व्यक्ति की सनक के अधीन नहीं रहा बल्कि बहुमत की आकांक्षाओं के अधीन हो गया। अतः इस नियम में अध्यक्ष को अपनी ओर से किसी समय बाहरी व्यक्तियों को बाहर जाने का आदेश देने का अधिकार दिया गया है और इसके लिए सभा के किसी सदस्य द्वारा कोई प्रस्ताव लाया जाना आवश्यक नहीं है।

हाउस ऑफ कॉमन्स का दावा है कि उसे वाद-विवाद की गोपनीयता का विशेषाधिकार है और वह अपने वाद-विवादों और अपनी कार्यवाही के प्रकाशन पर रोक लगा सकता है। 1771 में एक घटना हुई जिससे इस विशेषाधिकार पर बहस की गुंजाइश नहीं रही। एक मुद्रक ने जो लंदन शहर में रहता था, हाउस ऑफ कॉमन्स के वाद-विवाद, उनकी अनुमति के बिना छाप दिये। हाउस ऑफ कॉमन्स अपना विशेषाधिकार इस तरह भंग होने पर नाराज हो गया और अध्यक्ष की ओर से मुद्रक को गिरफ्तार करने के लिए एक सन्देशवाहक भेजा गया। उधर मुद्रक ने अपने मकान में उस पर प्रहार करने के लिए हाउस ऑफ कॉमन्स के सन्देशवाहक को सिपाही के हवाले कर दिया। जो दंडात्मक कार्यवाही हुई उसमें लंदन शहर के महापौर और दो मुख्यपौरों ने, जो पीठ के सदस्य थे, निर्णय दिया कि हाउस ऑफ कॉमन्स द्वारा जारी किया गया गिरफ्तारी वारंट शहर में लागू नहीं होता क्योंकि शहर में उनका शासन है और हाउस ऑफ कॉमन्स के सन्देशवाहक को गिरफ्तार कर लिया गया, यद्यपि उन्होंने उसे जमानत पर छोड़ दिया। हाउस ऑफ कॉमन्स ने महापौर और मुख्यपौरों को, जो पीठ के सदस्य थे और उनके क्लर्क को जिसने अपने ग्रन्थ में सन्देशवाहक की जमानत दर्ज की, बुलवाया। उन्होंने पृष्ठ को फाड़कर ग्रन्थ से सन्देशवाहक की जमानत सम्बन्धी प्रविष्टियाँ मिटा दीं और वारंट को चुनौती देने के लिए महापौर और मुख्यपौरों को टावर ऑफ लंदन के हवाले कर दिया। उसके बाद वाद-विवादों की गोपनीयता से

(Missing Page 185 of M/S)

या विधि बहिष्कृत व्यक्ति संसद के लिए निर्वाचित नहीं किया जा सकता। बक्स की काउंटी ने श्री गुडविन को निर्वाचित किया। वह एक विधि बहिष्कृत व्यक्ति था। राजा ने उसके निर्वाचन को अवैध घोषित कर दिया तथा एक और आदेश जारी किया। इस बार श्री फोरेटेसक निर्वाचित हुए। हाउस ऑफ कॉमन्स ने अपने प्रस्ताव पर यह संकल्प लिया कि यद्यपि राजा ने श्री गुडविन के निर्वाचन का परिवर्जन किया है, तथापि श्री गुडविन सभा का विधिवत निर्वाचित सदस्य है। दूसरी ओर राजा ने इस मसले को तय करने के अधिकार का दावा किया। राजा, हाउस ऑफ कॉमन्स के सदस्यों तथा हाउस ऑफ लॉर्ड्स के सदस्यों के बीच हुए एक सम्मेलन में लॉर्ड्स ने राजा को पराजय स्वीकार करने और कॉमन्स के अधिकार को मान्यता देने की सलाह दी। सभा द्वारा विवादित निर्वाचन की सुनवाई सभा के लिए परेशानी और उम्मीदवारों के लिए उत्सुक्ता का कारण बन गयी क्योंकि ऐसी सुनवाई दलीय राजनीति का विषय बन गयी और 1868 में सभा ने कानून बना कर विवादित निर्वाचनों का निर्णय करने का काम न्यायालय पर छोड़ दिया।

सभा का तीसरा विशेषाधिकार ऐसे सदस्य को सभा से निष्कासित करने का अधिकार है जो ऐसे ढंग से व्यवहार करता है कि वह सभा में बैठने के योग्य नहीं रहता। निष्कासन कोई निरर्हता नहीं है और निष्कासित सदस्य को पुनः चुना जा सकता है। यह याद रखना चाहिए कि चुने जाने के अधिकार से सभा में बैठने का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता। कोई व्यक्ति निर्वाचित होता है तो यह मतदाताओं की उस पर कृपा है, लेकिन सभा में बैठने की कृपा सभा ही कर सकती है। ऐसे मामले हुए हैं जिनमें लोग हाउस ऑफ कॉमन्स के लिए विधिवत् निर्वाचित हुए, लेकिन वे सभा में अपना स्थान ग्रहण नहीं कर सके। विल्केस का मामला इसका एक उदाहरण है। विल्केस को मिडलसेक्स की काउंटी द्वारा लगातार चार बार निर्वाचित किया गया और चारों बार उसे सभा में स्थान नहीं दिया गया।

हाउस ऑफ कॉमन्स का एक और महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार सभा में उद्भूत मामलों का संज्ञान लेने का एकाधिकार है। इस विशेषाधिकार के अन्तर्गत सभा को अपनी आन्तरिक कार्यवाही तथा मामलों और अपने कारोबार का तरीका तथा ढंग नियमित करने का पूरा अधिकार है और कोई न्यायालय उन चीजों का संज्ञान नहीं ले सकता जो उसकी सीमा के भीतर होती है। इस विशेषाधिकार का स्वरूप और विस्तार क्या है, यह बात ब्रेडलाफ बनाम गोसेट के मामले से स्पष्ट हो जाती है। इस मामले के तथ्य सहज हैं। 3 मई, 1880 को श्री ब्रेडलाफ ने जो नार्थेम्टन से एक सदस्य निर्वाचित हुआ था, शपथ की बजाय प्रतिज्ञान करने की माँग की, क्योंकि वह एक नास्तिक था। हाउस ऑफ कॉमन्स की एक समिति ने प्रतिवेदन किया कि प्रतिज्ञान न्यायालय की कार्यवाही में होती है और संसद सदस्य ऐसा नहीं कर सकते। संसद सदस्य केवल शपथ ही ले सकते हैं। इस रिपोर्ट के पश्चात् ब्रेडलाफ

अध्यक्ष के पटल के पास शपथ लेने गया। तथापि सभी ने इस आधार पर आपत्ति की कि इनके अन्तःकरण को बाध्य नहीं किया जा सकता और यह एक औपचारिकता है। यह रिपोर्ट करने के लिए एक और समिति बनायी गयी कि क्या श्री ब्रेडलाफ को शपथ लेने की अनुमति दी जाये। इस समिति ने रिपोर्ट दी कि उसे शपथ लेने की अनुमति दी जाये क्योंकि इसकी वैधता की जाँच न्यायालय में की जाएगी। इसके अनुसार श्री ब्रेडलाफ को प्रतिज्ञान करने की अनुमति देने के लिए एक प्रस्ताव रखा गया जिसमें एक संशोधन किया गया। इस संशोधन में उसे न तो उसके शपथ लेने और न ही प्रतिज्ञान करने की अनुमति देने का प्रस्ताव किया गया। तथापि ब्रेडलाफ ने शपथ लेने के अपने अधिकार पर बल दिया, लेकिन अध्यक्ष ने उसे बाहर जाने के लिए कहा। उसने इंकार कर दिया। तत्पश्चात सारजेंट से श्री ब्रेडलाफ को बाहर निकालने के लिए कहा गया। इस पर श्री गोसेट सारजेंट और श्री ब्रेडलाफ के बीच हाथापाई हो गयी जिसमें श्री ब्रेडलाफ बुरी तरह जख्मी हो गया। अतः प्रतिज्ञान करने की अनुमति देने का एक स्थाई आदेश पारित किया गया। श्री ब्रेडलाफ ने प्रतिज्ञान किया किन्तु न्यायालय ने घोषणा की कि कोई संसद सदस्य प्रतिज्ञान नहीं कर सकता। उसके पश्चात् उसका स्थान खाली रखा गया। उसके 1881 में पुनः निर्वाचित होने पर उसी दृश्य की पुनरावृत्ति हुई। जब कभी वह शपथ लेने के लिए पटल के पास आया तो सभा ने संकल्प लिया कि उसे ऐसा करने की अनुमति न दी जाये। एक अवसर पर अध्यक्ष के निर्देशानुसार सारजेंट गोसेट ब्रेडलाफ को सभा के बाहर ले गया और बाद में उसे निष्कासित कर दिया गया। ब्रेडलाफ रानी की खंडपीठ में गोसेट के विरुद्ध एक वाद लाया जिसमें माँग की गयी कि शपथ लेने से उसे रोकने के लिए गोसेट को बल का प्रयोग न करने का आदेश दिया जाये। इस पर सभा ने सारजेंट के बचाव का सामान्य आदेश दे दिया। रानी की खंडपीठ ने श्री ब्रेडलाफ को इस आधार पर सहायता देने से इंकार कर दिया कि गोसेट ने जिस आदेश के अन्तर्गत कार्यवाही की उसका सम्बन्ध सभा की प्रक्रिया से है और ऐसे मामले में न्यायालय को हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है।

हाउस ऑफ कॉमन्स अपने वैभव और प्रभुत्व की रक्षा करने के विशेषाधिकार का दावा करता है। सभा जिन कार्यों को अपमान अथवा अपनी मर्यादा के प्रतिकूल समझ सकती है उनकी गणना करने का प्रयास करना यहाँ व्यर्थ होगा। लेकिन कुछ सिद्धान्त प्रस्तुत किये जा सकते हैं–

1. सभा की कार्यवाही से सम्बन्धित किसी आदेश अथवा नियम की अवज्ञा विशेषाधिकार का उल्लंघन है। सभा के संकल्प के प्रतिकूल वाद-विवादों का प्रकाशन, वाद-विवादों का जानबूझ कर मिथ्या-निरूपण, सभा के समक्ष प्रतिवेदन करने से पूर्व प्रवर समिति के समक्ष साक्ष्य का प्रकाशन, इस नियम के उल्लंघन के उदाहरण हैं।

2. विशेषादेशों की अवज्ञा : प्रत्येक सत्र के आरम्भ में प्रस्ताव पारित किये जाते हैं, जिनमें घोषणा की जाती है कि सभा उन लोगों के विरुद्ध अत्यन्त कठोर कार्यवाही करेगी जो सभा या उसकी किसी समिति को दिये जाने वाले साक्ष्य के सम्बन्ध में गवाहों से साठगाँठ कर लेते हैं, उपस्थित होने या गवाही देने से लोगों को रोकते हैं या बाधा डालने का प्रयास करते हैं, और जो सभा अथवा उसकी किसी समिति के समक्ष गलत गवाही देते हैं, ऐसे लोग विशेष आदेशों की अवज्ञा के कारण विशेषाधिकार भंग के दोषी होंगे।

3. संसद के चरित्र अथवा कार्यवाही अथवा सभा की प्रतिष्ठा के बारे में अपमानजनक टिप्पणी करके विशेषाधिकार भंग के लिए लोगों को ही दोषी ठहराया जा सकता है। यदि संसद सदस्य भी इस नियम का उल्लंघन करते हैं तो उन्हें भी दंड दिया जा सकता है। 1819 में श्री होभूसे ने जो एक संसद सदस्य था, एक गुमनाम पुस्तिका प्रकाशित करके, सभा द्वारा संसदीय सुधारों का विरोध किये जाने की निन्दा की। जब उसने मान लिया कि वह पुस्तिका उसने प्रकाशित की थी तो सभा ने उसे विशेषाधिकार का उल्लंघन करने के लिए दोषी ठहराया। 1838 में एक और मामले में, श्री ओकोमेड, संसद सदस्य, ने एक आम सभा में आरोप लगाया कि निर्वाचन समितियों में अपने न्यायिक कर्तव्यों के निर्वहन के सम्बन्ध में सभा के सदस्यों ने झूठी कसम ली थी।

4. सभा के सदस्य के रूप में अपने कर्तव्यों का निर्वहन करते समय सभा के सदस्यों के साथ छेड़छाड़ : सभा में आते समय या सभा से जाते समय अथवा संसद में उसके व्यवहार के कारण सभा के किसी सदस्य पर आक्षेप करना, उसका अपमान करना या उसे धमकाना अथवा सभा के समक्ष आने वाले किसी प्रस्ताव के पक्ष में अपने विपक्ष में बलात घोषणा करने के लिए सदस्यों को बाध्य करने का प्रयास करना अथवा एक विशेष ढंग से मतदान करने के लिए संसद सदस्यों को घूस देना, सभा के विशेषाधिकार का उल्लंघन है।

भाग-II

व्यक्तिगत सदस्यों के विशेषाधिकार

1. गिरफ्तारी से छूट – इस विशेषाधिकार के अन्तर्गत सदस्यों को सत्र के दौरान तथा इसके आरम्भ होने से पूर्व और समाप्त होने के पश्चात 40 दिन तक गिरफ्तारी से छूट दी गयी है। आरम्भ में यह विशेषाधिकार सदस्यों को ही नहीं, अपितु उनके नौकरों तथा परिवार जनों को भी प्राप्त था। अब यह केवल सदस्यों को ही प्राप्त है।

2. भाषण की स्वतन्त्रता – विलियम और मैरी की संविधि एस 2 सी 2 में प्रावधान किया गया है कि संसदीय वाद-विवाद और कार्यवाही में भाषण की पूरी स्वतन्त्रता होगी और वे जो कुछ भी कहेंगे उस पर किसी न्यायालय में या संसद से बाहर किसी स्थान पर कोई आपत्ति नहीं की जाएगी अथवा उसे चुनौती नहीं दी जाएगी।

भाग-III

विशेषाधिकार के उल्लंघन पर सजा देने के तरीके

विशेषाधिकार के उल्लंघन के दोषी व्यक्तियों को सभा पाँच अलग तरीकों से सजा दे सकती है। विशेषाधिकार उल्लंघन के उन मामलों में जो गंभीर नहीं हैं, विशेषाधिकार का उल्लंघन करने के कारण गिरफ्तार किये गये किसी व्यक्ति को केवल चेतावनी देकर छोड़ सकती है। यदि वह क्षमा माँगने के लिए तैयार हो जाता है, तो उसे फटकार लगा कर छोड़ सकती है। इससे स्पष्ट है कि अन्तिम किस्म की सजा, अर्थात निष्कासन की सजा, केवल उन संसद सदस्यों को ही दी जा सकती है, जो विशेषाधिकार का उल्लंघन करते हैं।

भाग-IV

हाउस ऑफ लॉर्ड्स के विशेषाधिकार

हाउस ऑफ लॉर्ड्स के भी प्राय: वही विशेषाधिकार हैं, जो हाउस ऑफ कॉमन्स के हैं। इसलिए उन पर अलग से विस्तार से विचार करना अनावश्यक है। हाउस ऑफ लॉर्ड्स और हाउस ऑफ कॉमन्स के विशेषाधिकारों के बीच केवल एक अन्तर है, जिसका उल्लेख करना आवश्यक है और जिसका सम्बन्ध उनके विशेषाधिकारों के स्रोत से है। हाउस ऑफ कॉमन्स के विशेषाधिकार राजा की ओर से भेंट हैं। अध्यक्ष की हर नव निर्वाचित संसद के आरम्भ में हाउस ऑफ कॉमन्स के नाम पर उनकी माँग करनी होती है लेकिन हाउस ऑफ कॉमन्स का इन विशेषाधिकारों पर अपना अधिकार है। उन्हें ये अधिकार राजा से प्राप्त नहीं होते।

*भाग-V

सभा के अधिकारी

हाउस ऑफ लॉर्ड्स और हाउस ऑफ कॉमन्स के अपने कार्यों के सामान्य संचालन और विशेषाधिकारों के प्रवर्तन के लिए कुछ अधिकारी होते हैं। अच्छी तरह समझाने के लिए दोनों सभाओं के अधिकारियों के महत्त्व और कृत्यों पर अलग से विचार करना वांछनीय होगा।

+भाग-VI

हाउस ऑफ कॉमन्स

1. अध्यक्ष – अब आम चुनाव के बाद, अपनी पहली बैठक में हाउस ऑफ कॉमन्स द्वारा अध्यक्ष निर्वाचित किया जाता है और वह एक प्रस्ताव लाकर अपने पद से न हटाया

* मूल रूप से यह 'भाग-छह' है। – संपादक

\+ मूल पांडुलिपि में भाग संख्या का उल्लेख नहीं है। – संपादक

जाये तो संसद के कार्यकाल तक अपने पद पर बना रहता है। आरम्भ में यह अधिकार राजा को था और वह वास्तव में चयन करने के अपने अधिकार का प्रयोग करता था। 1679 में अध्यक्ष का चयन करने के अधिकार को लेकर चार्ल्स II और नव निर्वाचित हाउस ऑफ कॉमन्स के बीच विवाद हो गया। हाउस ऑफ कॉमन्स के सदस्यों ने सर एडवर्ड सेमूर का चयन किया और राजा ने हाउस ऑफ कॉमन्स के अपने व्यक्ति का सुझाव दिया और सभा ने उसे अध्यक्ष स्वीकार करने से इंकार कर दिया। अन्ततः एक समझौता हुआ और कोई दूसरा व्यक्ति जो हाउस ऑफ कॉमन्स के सदस्यों की अपनी पसंद का था, उसे अपना अध्यक्ष स्वीकार किया गया। उस पर राजा ने भी अपना अध्यक्ष चुनने के हाउस ऑफ कॉमन्स के अधिकार का विरोध नहीं किया।

भाग-VII

अध्यक्ष के कर्तव्य

हाउस ऑफ कॉमन्स का अध्यक्ष तीन अलग रूपों में काम करता है। वह सभा के प्रवक्ता तथा प्रतिनिधि के रूप में निम्नलिखित कार्य करता है–

1. वह सभा के विशेषाधिकारों की माँग करता है और इसके धन्यवाद प्रस्ताव को पारित करता है तथा चेतावनी और फटकार सुनिश्चित करता है।

2. जब कभी किसी व्यक्ति को विशेषाधिकार भंग करने के कारण सजा दी जाती है तो वह गिरफ्तारी के वारंट जारी करता है। वह सभा द्वारा प्रताड़ना या सजा दिये जाने के लिए अथवा सभा के आदेशानुसार किसी अन्य प्रयोजन के लिए उसे न्यायालय में उपस्थित होने के लिए वारंट जारी करता है।

3. वह रिक्त स्थान भरने के आदेश जारी करता है। 1911 के संसद अधिनियम के अन्तर्गत अध्यक्ष को एक नया काम दिया गया है जो पहले उसके पास नहीं था। इस अधिनियम के अन्तर्गत वह एक न्यायिक अधिकारी के रूप में काम करता है और इस हैसियत से उसे यह प्रमाणित करना होता है कि कोई विशेष विधेयक, वित्त विधेयक है या नहीं है।

जब कभी सभा अपना कार्य करने के लिए समवेत होती है तो अध्यक्ष सभा का सभापति होता है। सभापति की हैसियत से उससे यह अपेक्षा की जाती है–

1. वाद-विवादों में व्यवस्था बनाए रखना।
2. व्यवस्था के प्रश्नों का फैसला करना।
3. विचाराधीन प्रश्न सभा के समक्ष रखना।
4. प्रश्न पर सभा के निर्णय की घोषणा करना।

भाग-VIII

अध्यक्ष के अधीन अधिकारी

हाउस ऑफ कॉमन्स के अध्यक्ष के अधीन दो अधिकारी होते हैं। एक को हाउस ऑफ कॉमन्स का लिपिक पुकारा जाता है और दूसरे को सशस्त्र सारजेंट पुकारा जाता है। हाउस ऑफ कॉमन्स के लिपिक का कर्तव्य सभा की कार्यवाही का वृत्तान्त रखना है। यह हाउस ऑफ कॉमन्स का जर्नल तैयार रखने का काम करता है जिसमें सभा के समक्ष लाये गये और दैनंदिन क्रमानुसार चर्चित सभी विषय नोट किये जाते हैं।

सारजेंट एक तरह से पुलिस अधिकारी है, जिसका काम आंतरिक व्यवस्था और विशेषाधिकार के उल्लंघन से सम्बन्धित सभा और अध्यक्ष के आदेशों को लागू करना है।

हाउस ऑफ लॉर्ड्स

अध्यक्ष – हाउस ऑफ लॉर्ड्स का अध्यक्ष निर्वाचित व्यक्ति नहीं है और हाउस ऑफ लॉर्ड्स को अपना अध्यक्ष निर्वाचित करने का कोई अधिकार भी नहीं है। कानून के अनुसार लार्ड चांसलर या ग्रेट सील का लॉर्ड कीपर, हाउस ऑफ लॉर्ड्स का अध्यक्ष है जो लॉर्ड चांसलर की अनुपस्थिति में अध्यक्ष के रूप में काम कर सकता है। उसकी अनुपस्थिति में यह स्थान कोई एक उपाध्यक्ष ग्रहण करता है। राजा के आयोग द्वारा ऐसे कई उपाध्यक्षों की नियुक्ति की जाती है और यदि सभी उपाध्यक्ष अनुपस्थित हों तो हाउस ऑफ लॉर्ड्स द्वारा अस्थाई तौर पर एक अध्यक्ष निर्वाचित किया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि हाउस ऑफ लॉर्ड्स का अध्यक्ष अभिजात ही हो। यह पदभार साधारण नागरिक भी सँभाल सकता है और ऐसा हुआ भी है जब एक साधारण नागरिक जो ग्रेट सील का लॉर्ड कीपर था या जब ग्रेट सील कमीशन में थी। विशेषता यह है कि इस सभा का सभापति अनिवार्य रूप से इसका सदस्य ही हो, यह जरूरी नहीं है। और जिस लॉर्ड चांसलर के पद पर अध्यक्ष बैठता है उसे हाउस ऑफ लॉर्ड्स की सीमाओं से बाहर समझा जाता है, ताकि ऐसे व्यक्ति को यह पदभार सँभालने की अनुमति दी जा सके जो सभा का सदस्य नहीं है।

हाउस ऑफ लॉर्ड्स में अध्यक्ष के कर्तव्य

हाउस ऑफ लॉर्ड्स के अध्यक्ष की स्थिति हाउस ऑफ कॉमन्स के अध्यक्ष की स्थिति से पूर्णतः भिन्न है। जहाँ तक उनके अधिकारों और कृत्यों का सम्बन्ध है, उनमें इस बात के अलावा कि वह दोनों विधान सभा के सभापति हैं, कुछ भी समानता नहीं है। दोनों के अधिकारों और कृत्यों में मूलभूत अन्तर है। यह बात स्थाई आदेश संख्या 20

से स्पष्ट हो जाती है, जिसमें हाउस ऑफ लॉर्ड्स के अध्यक्ष के रूप में लॉर्ड चांसलर के कर्तव्य परिभाषित किये गये हैं। इस स्थाई आदेश में कहा गया है– "लॉर्ड चांसलर को जब सभा से कुछ कहना होता है, तो वह सदैव मुक्त रूप से कहता है और वह पहले सभा के सदस्यों की अनुमति लिये बिना सभा को स्थगित नहीं कर सकता। वह सभा के प्रवक्ता के रूप में कोई भी कार्य कर सकता है सिवाय इसके कि विधेयकों के मामलों में छोटी-मोटी चीज कर सकता है, और ये उसके अधिकार हैं। लॉर्ड्स (सदस्यों) में मतभेद हो, तो मामला सभा के समक्ष रखा जाता है और यदि लॉर्ड चांसलर को कोई विशेष बात कहनी हो, तो उसे अभिजात के रूप में अपने स्थान पर जाना पड़ता है और इस बात का ध्यान रखा जाता है कि लॉर्ड चांसलर का स्थान सदन की बॉईं ओर होता है।" इस स्थाई आदेश से स्पष्ट हो जाता है कि हाउस ऑफ लॉर्ड्स में अध्यक्ष का प्राधिकार कितना सीमित है।

1. व्यवस्था बनाए रखने के लिए नियम लागू करने में हाउस ऑफ लॉर्ड्स के अध्यक्ष को किसी अन्य अभिजात से अधिक अधिकार प्राप्त नहीं हैं।

2. वह हाउस ऑफ कॉमन्स के अध्यक्ष की तरह व्यवस्था के प्रश्न का फैसला नहीं कर सकता। वह अभिजात है, तो वह उठाये गये किसी व्यवस्था के प्रश्न पर सभा को सम्बोधित कर सकता है, लेकिन इसका फैसला सभा का बहुमत ही करेगा।

3. सभा की कार्यवाही का संचालन करने में हाउस ऑफ लॉर्ड्स के अध्यक्ष का सीमित अधिकार होने के कारण एक अभिजात का सभा को सम्बोधित करने का अधि कार उस पर निर्भर नहीं करता है जैसा कि हाउस ऑफ कॉमन्स में होता है, अपितु यह पूर्णतया सभा की इच्छा पर निर्भर करता है। जब दो अभिजात एक साथ खड़े हो जाते हैं तो यदि एक तुरन्त दूसरे को अवसर नहीं देता तो सभा उनमें से एक को बोलने के लिए पुकारती है और यदि प्रत्येक का किसी दल द्वारा समर्थन किया जाता है तो विभाजन के अलावा कोई विकल्प नहीं रह जाता। हाउस ऑफ कॉमन्स की तरह इस मामले में अध्यक्ष फैसला नहीं करता।

अतः अध्यक्ष को अधूरी शक्तियाँ प्राप्त होने का परिणाम यह होता है कि एक उत्पाती अभिजात को, सम्भवतया विपक्ष के किसी अन्य अभिजात द्वारा शान्त किया जाता है और इस प्रकार एक नियम विरुद्ध बहस शुरू हो सकती है। इस प्रकार हर अन्तिम वक्ता व अव्यवस्था के लिए अपने से पूर्व के वक्ता को दोषी ठहराता है और एक व्यवस्थित वाद-विवाद के स्थान पर एक-दूसरे पर दोष लगाये जाने का काम होने लगता है। लॉर्ड चांसलर बैठ कर देखता रहता है, लेकिन वह हस्तक्षेप नहीं कर सकता, क्योंकि उसे केवल प्रश्न पूछने और अन्य औपचारिक कार्यवाही चलाने का अधिकार है।

अन्य अधिकारी

हाउस ऑफ लॉर्ड्स के अध्यक्ष के रूप में लॉर्ड चांसलर के मातहत निम्न तीन अधिकारी हैं–

1. संसद का क्लर्क : उसके वही कर्तव्य हैं जो हाउस ऑफ कॉमन्स के क्लर्क के हैं। अर्थात एक जर्नल में हाउस ऑफ लॉर्ड्स की कार्यवाही और निर्णयों का वृत्तान्त रखना।

2. जैंटलमेन अशर ऑफ द ब्लैक राड : इसके वही कर्तव्य हैं जो हाउस ऑफ कॉमन्स में सारजेंट के हैं। वह सभा में व्यवस्था लाने का काम करता है।

3. सशस्त्र सारजेंट : यह लॉर्ड चांसलर का परिचर है।

अध्याय 2

प्रभुता और भारतीय रियासतों की स्वतन्त्र होने की माँग

15 अगस्त को स्वतन्त्र राष्ट्र बन जाने पर ट्रावनकोर और हैदराबाद द्वारा अपने आप को स्वतन्त्र प्रभुसत्ता सम्पन्न राज्य घोषित करने की घोषणा और दूसरी रियासतों द्वारा उनके उदाहरण का अनुकरण करने के रुझान से एक नयी समस्या खड़ी हो गयी। यह समस्या कठिन थी और इस पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। यहाँ प्रश्न के दो पहलू हैं। क्या रियासतें अपने आप को स्वतन्त्र राज्य घोषित कर सकती हैं? क्या उन्हें अपने आप को स्वतन्त्र घोषित करना चाहिए?

हम पहले पहलू से आरम्भ करते हैं। रियासतों ने अपने आप स्वतन्त्र घोषित करने के अधिकार का जो दावा किया था, उसका आधार केबिनेट मिशन द्वारा 12 मई, 1946 को जारी किया गया बयान था, जिसमें उनका कहना था कि ब्रिटिश सरकार किसी भी परिस्थिति में एक भारतीय सरकार को प्रभुता न तो हस्तांतरित कर सकती है और न ही करेगी। इसका अर्थ यह हुआ कि रियासतों को राजा के साथ उनके सम्बन्धों से जो अधिकार मिले हैं वे अब और नहीं रहेंगे और रियासतों द्वारा सर्वोपरि सत्ता को समर्पित सभी अधिकार राज्यों को वापस मिल जाएँगे। कैबिनेट मिशन का यह बयान कि राजा, प्रभुता हस्तांतरित नहीं कर सकता, स्पष्टतया राजनैतिक नीति विषयक बयान नहीं है। यह कानून का कथन है। प्रश्न यह है कि क्या यह कानून का सही कथन है और क्या यह रियासतों पर लागू होता है?

केबिनेट मिशन के इस प्रस्ताव में कुछ भी नया नहीं है। यह राजा और भारतीय रियासतों के बीच सम्बन्धों का अध्ययन करने के लिए 1929 में नियुक्त बटलर समिति द्वारा किये गये विचारों की पुनरावृत्ति है।

जैसा कि इस विषय के छात्र जानते हैं, राजाओं ने बटलर समिति के समक्ष जो नीति अपनाई, उसमें उन्होंने दो प्रस्ताव रखे थे–

1. प्रभुता राजकुमारों और रियासतों के बीच हुई सन्धियों में अन्तर्विष्ट शर्तों का उल्लंघन नहीं कर सकती, लेकिन उनके द्वारा सीमित की गयी थी।

2. कि प्रभुता में शामिल सम्बन्ध, सम्राट और भारतीय राजकुमारों के बीच निजी प्रकार के थे, इसलिए वे सम्राट द्वारा और उन राजकुमारों की अनुमति के बिना भारत सरकार को नहीं सौंपे जा सकते थे।

बटलर समिति ने पहले दो दावों को स्वीकार नहीं किया। समिति ने घोषणा की कि प्रभुता परम सत्ता है और इस पर सन्धियों में अन्तर्विष्ट कोई शर्त लागू नहीं होती। जहाँ तक दूसरे दावों का सम्बन्ध है, यह बड़ी विचित्र बात है कि बटलर समिति ने इसका समर्थन किया। क्या समिति ने ऐसा प्रभुता के बारे में राजकुमारों के दावे को ठुकराने के कारण समिति से असन्तुष्ट राजकुमारों को खुश करने के लिए किया, इसके बारे में अटकलबाजी लगाने का कोई लाभ नहीं है। तथापि, तथ्य यह है कि इससे भारत सरकार के राजनैतिक विभाग और राजकुमारों को काफी सन्तोष हुआ।

यह सिद्धान्त कि प्रभुता भारत सरकार को हस्तांतरित नहीं की जा सकती, एक बहुत ही शरारतपूर्ण सिद्धान्त है और यह सम्बन्धित विषयों की गलत धारणा पर आधारित है। यह सिद्धान्त इतना प्रतिकूल है कि अंग्रेजी विधि के इतिहास के लेखक स्वर्गीय प्रो. होल्ड्सबर्थ को अक्तूबर 1930 के लॉ क्वार्टरली रिव्यू के पृष्ठों में इसका समर्थन करने के लिए काफी पटुता से काम लेना पड़ा। दुर्भाग्यवश संवैधानिक विधि के किसी भारतीय छात्र ने उनके विचारों का खंडन करने का कभी प्रयास नहीं किया, जिसके परिणामस्वरूप उनका सिद्धान्त इस विषय में अन्तिम और निर्णायक सिद्धान्त बना रहा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि कैबिनेट मिशन ने उन्हें प्रामाणिक माना और ब्रिटिश इंडिया बनाम भारतीय रियासतों के विवाद को सुलझाने में उन पर अमल किया। यह खेद का विषय है कि कांग्रेस कार्यकारिणी ने जो समझौते के लिए केबिनेट मिशन से बातचीत कर रही थी, प्रभुता के सम्बन्ध में मिशन द्वारा प्रतिपादित प्रस्ताव को चुनौती नहीं दी। लेकिन ऐसी परिस्थिति में नये सिरे से मामले पर विचार करने और अपना निर्णय लेने का भारतीयों का अधिकार समाप्त नहीं हो जाता और वे अपने निर्णय पर अडिग रह सकते, यदि उनकी पक्की धारणा हो जाती है कि उनके विचार सही हैं, फिर चाहे केबिनेट मिशन ने जो भी कहा हो।

प्रभुता के बारे में केबिनेट मिशन ने जो दृष्टिकोण अपनाया है उसके विरोध में निम्नलिखित बातें कही जा सकती हैं—

1. प्रभुता, राजा के विशेषाधिकार का दूसरा नाम है। यह सही है कि राजा के विशेषाधिकार के रूप में प्रभुता, राजा के पदेन विशेषाधिकार से दो तरह से भिन्न है— (क) राजा के पदेन विशेषाधिकार का आधार संविधि विधि न होकर सामान्य विधि होती है जबकि प्रभुता से उद्भूत विशेषाधिकार का आधार सन्धियाँ तथा प्रथाएँ होती हैं। (ख) राजा के सामान्य विधि विशेषाधिकार राजा की डोमनियनों में रहने वाली

राजा की पूरी प्रजा और उनमें अस्थाई तौर पर रहने वाले विदेशियों पर लागू होती है, जबकि विशेषाधिकार के रूप में प्रभुता केवल भारतीय रियासतों पर लागू होती है। निस्सन्देह, प्रभुता राजा के विशेषाधिकार का एक भिन्न अंग है। बहरहाल तथ्य यह है कि प्रभुता राजा का एक विशेषाधिकार है।

2. राजा का विशेषाधिकार होने के नाते, प्रभुता का प्रयोग नगरपालिका विधि के उस अंश के अन्तर्गत किया जा सकता है, जिसे संविधान विधि कहते हैं।

3. संवैधानिक विधि के सिद्धान्त के अनुसार, जबकि राजा को विशेषाधिकार प्राप्त है, राजा अपने विशेषाधिकार का प्रयोग स्वविवेक से नहीं कर सकता, अपितु वह इसका प्रयोग अपने मन्त्रियों के परामर्श से ही कर सकता है। राजा अपने मन्त्रियों के परामर्श के बिना इसका प्रयोग नहीं कर सकता।

ऊपर प्रतिपादित अन्तिम प्रस्ताव को और विस्तार से बताने की आवश्यकता है, क्योंकि यह पूछा जा सकता है कि मन्त्रिमंडल की सलाह से राजा को काम करना होता है। इसका उत्तर यह है कि राजा को सम्बन्धित डोमीनियन के मन्त्रिमंडल की सलाह से काम करना होता है। फलतः अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करने के मामले में राजा, ब्रिटेन के मन्त्रिमंडल की सलाह से काम करता था। वेस्टमिनिस्टर संविधि के पारित होने के पश्चात जिसके अन्तर्गत कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका और आयरलैंड पृथक डोमीनियन बन गये, राजा द्वारा अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग सम्बन्धित डोमीनियन के मन्त्रिमंडल के परामर्शों से किया जाता है। उसके लिए ऐसा करना आवश्यक है। वह इसके विरुद्ध कार्यवाही नहीं कर सकता। इसका अर्थ यह हुआ कि जब भारत एक डोमीनियन बन जाता है, तो राजा को अपने विशेषाधिकार अर्थात प्रभुता का प्रयोग भारतीय मन्त्रिमंडल की सलाह से करना होगा।

जो लोग इस सिद्धान्त के समर्थक हैं कि प्रभुता, भारत सरकार को हस्तांतरित नहीं की जा सकती, वे मानते हैं कि भारत सरकार अधिनियम, 1833 की धारा 39 के प्रावधानों को भारत सरकार अधिनियम, 1935 में शामिल नहीं किया गया है। उन्हें भारत सरकार अधिनियम, 1915-19 की धारा 33 में रखा गया था, जिसके अनुसार भारत की असैनिक और सैनिक सरकार (ब्रिटिश भारत की असैनिक और सैनिक से भिन्न) परिषद के गवर्नर जनरल में निहित है और उनका तर्क है कि इस निष्कर्ष का यह सबूत है कि प्रभुता किसी भारतीय सरकार को हस्तांतरित नहीं की जा सकती थी।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यह तर्क बचकाना है। भारत सरकार अधिनियम में ऐसा प्रावधान है या नहीं यह एक पृथक मामला है और इससे कुछ सिद्ध नहीं होता। इस खंड के न होने से यह सिद्ध नहीं होता कि भारत किसी हालत में प्रभुता के प्रयोग के बारे में राजा को सलाह देने के अधिकार का दावा नहीं कर सकता। भारत सरकार अधिनियम

में इसके होने का अर्थ यह नहीं है कि 1833 से 1935 के दौरान भारत सरकार को ऐसी शक्ति प्राप्त थी, जब यह खंड अधिनियम में था, क्योंकि उसी खंड में एक परंतुक था जिसके अनुसार राज्य के सचिव द्वारा जारी किये गये सभी आदेशों का परिषद् के गवर्नर जनरल को पूरा पालन करना होता था। इसका अर्थ यह हुआ कि 1835 से 1935 के दौरान भी विशेषाधिकार के प्रयोग के मामले में राजा को सलाह देने का अन्तिम अधिकार ब्रिटिश भारत में भारत के लिए नियुक्त राज्य सचिव को था।

1833 से 1935 के बीच भारत के शासन के सम्बन्ध में संसद द्वारा पारित विभिन्न अधिनियमों में स्वीकार की गयी प्रभुता को समाप्त करने के विभिन्न तरीके, प्रभुता के प्रयोग में राजा को सलाह देने के भारत के लोगों के दावे को प्रभावित नहीं करते और न ही कर सकते हैं। साम्राज्य के संवैधानिक कानून के अन्तर्गत जब कोई देश डोमीनियन बनता है, तभी इसे राजा को सलाह देने का अधिकार होता है और यह तथ्य इसके इस दावे के आड़े नहीं आता कि इसके डोमीनियन बनने से पहले इसे दूसरी सलाह दी गयी थी। 1935 के अधिनियम के अनुसार भारत एक ऐसा देश नहीं था, जिसकी सरकार जिम्मेदार हो। लेकिन यदि इसकी सरकार जिम्मेदार थी, तो भारतीय रियासतों के बारे में राजा के विशेषाधिकारों के प्रयोग के बारे में राजा को सलाह देने का दावा नहीं कर सकता था। इसका कारण यह है कि ब्रिटिश साम्राज्य के संवैधानिक कानून के अनुसार जिम्मेदार सरकार और डोमीनियन स्थिति में अन्तर है। जिम्मेदार सरकार हो तो मन्त्रिमंडल का राजा को सलाह देने का अधिकार और राजा को इसे स्वीकार करने का दायित्व देश के आन्तरिक मामलों से उद्भूत विशेषाधिकारों के मामलों तक सीमित है। विदेशी मामलों में राजा को सलाह देने का अधिकार ब्रिटिश मन्त्रिपरिषद को ही था। लेकिन एक डोमीनियन के मामले में राजा के लिए यह आवश्यक है कि वह मन्त्रिमंडल की सलाह, विशेषाधिकार के प्रयोग के सभी मामलों में स्वीकारे चाहे वे आन्तरिक मामले हों या बाह्य मामले हों। इसी कारण बिना ब्रिटिश मन्त्रिमंडल के हस्तक्षेप से एक डोमीनियन किसी दूसरे देश से सन्धि कर सकती है। भारत सरकार को, राजा को अपने प्रभुता के अधिकार प्रयोग में सलाह देने की इजाजत नहीं दी गयी थी। इस तथ्य का अर्थ यह नहीं है कि कोई स्वाभाविक वैधानिक अयोग्यता है, जो भारत सरकार को सलाह देने के अधिकार से वंचित करती हो। वह क्षण जब से भारत उपनिवेश की स्थिति प्राप्त कर लेता है वह अपने आप राजा को प्रभुता के मामले में सलाह देने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। जो कुछ ऊपर कहा गया है वह ब्रिटिश साम्राज्य के संक्षिप्त विवरण के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साम्राज्य के एक भाग को जो डोमीनियन का दर्जा प्राप्त कर लेता है, राजा के विशेषाधिकार के प्रयोग में राजा को सलाह देने का अधिकार कैसे प्राप्त हो जाते हैं। एक डोमीनियन बनने पर भारत को इस अधिकार से वंचित रखा जाये, यह

बात समानता के सिद्धान्त के अनुसार, राजा को विशेषाधिकार के प्रयोग में राजा को सलाह देने का अधिकार भारत को होना चाहिए, उसी तरह जैसे कनाडा, आस्ट्रेलिया, दक्षिण अफ्रीका और आयरलैंड को है। प्रोफेसर होल्ड्सवर्थ भिन्न निष्कर्ष पर इसलिए नहीं पहुँचा क्योंकि उपरोक्त सांविधानिक कानून के मूलभूत सिद्धान्तों से कोई अन्तर नहीं है। वास्तव में उन्होंने उन्हें पूर्णरूपेण स्वीकार कर लिया है। वह भिन्न निष्कर्ष पर इसलिए पहुँचे कि उन्होंने बहस के लिए बिल्कुल भिन्न प्रश्न उठाया। होल्ड्सवर्थ ने यह प्रश्न उठाया कि क्या राजा किसी भारत सरकार को प्रभुता दे सकता है या हस्तांतरित कर सकता है? वास्तव में वाद का विषय यह नहीं है। वास्तव में वाद का विषय यह है कि क्या भारतीय डोमीनियन, प्रभुता के प्रयोगों के मामले में राजा को सलाह देने का दावा कर सकता है। दूसरे शब्दों में हमारा इस प्रश्न से कोई सम्बन्ध नहीं है कि क्या प्रभुता हस्तांतरित की जा सकती है। हमारा सम्बन्ध इस नियम से है कि प्रभुता का कैसे प्रयोग किया जा सकता है। मुझे विश्वास है कि यदि प्रो. होल्ड्सवर्थ ने समझ लिया होता कि सही विषय क्या है, तो किसी दूसरे निष्कर्ष पर नहीं पहुँचता।

अभी तक मैंने केबिनेट मिशन के बयान के एक भाग पर विचार किया है जिसमें उन्होंने कहा है कि राजा भारत सरकार को प्रभुता हस्तांतरित नहीं कर सकता। केबिनेट मिशन के बयान के अन्य भागों पर विचार करना अभी बाकी है, जिनमें उन्होंने कहा है कि राजा भारत सरकार को प्रभुता हस्तांतरित नहीं करेगा। केबिनेट मिशन के अनुसार प्रभुता समाप्त हो जाएगी। यह बहुत चकित करने वाला बयान है। और सांविधानिक कानून के सुस्थापित सिद्धान्त के प्रतिकूल है। इस सिद्धान्त के अनुसार राजा अपने विशेषाधिकारों को त्याग या छोड़ नहीं सकता। यदि राजा प्रभुता को हस्तांतरित नहीं कर सकता, तो वह इसे त्याग भी नहीं सकता। बनाम बेरामजी के मामले में प्रिवी कौंसिल (सर्वोच्च न्यायालय) ने इस सिद्धान्त को वैध माना था, जिसका निर्णय 1840 में हुआ और जिसकी खबर 5 मूर के पी.सी. पृष्ठ 276 में छपी और जिसमें उन्होंने कहा (पृष्ठ 294) कि राजा अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करने का अधिकार किसी को नहीं दे सकता। अतः यह स्पष्ट है कि केबिनेट मिशन का यह बयान कि राजा प्रभुता का प्रयोग नहीं करेगा साम्राज्य पर लागू सांविधानिक कानून के विरुद्ध है। राजा को प्रभुता प्रयोग करते रहना चाहिए। निस्सन्देह यह सही है कि स्पष्ट कानूनी अधिकार के अनुसार अनुमति दिये जाने पर राजा अपने विशेषाधिकार त्याग सकता है। प्रश्न यह है कि क्या ब्रिटिश संसद के लिए यह वैध और उचित होगा कि वह प्रभुता छोड़ने की अनुमति देने के लिए कानून बनाए। मुझे विश्वास है कि इस सम्बन्ध में भारतीय यह तर्क देंगे कि ऐसा करना न तो ब्रिटिश संसद के लिए वैध और न ही उचित होगा। यह वैध इसलिए नहीं होगा कि भारत के डोमीनियन बनने के पश्चात्, प्रभुता को समाप्त करने का कानून भारत की डोमीनियन संसद द्वारा पारित किया जा सकता है और ब्रिटिश संसद को इस

मामले में कोई भी अधिकार नहीं होगा। इसी प्रकार यह भी अनुचित होगा कि ग्रेट ब्रिटेन की संसद प्रभुता को समाप्त करने के लिए कोई कानून बनाए। इसका कारण यह है कि प्रभुता की मंजूरी अन्ततः सेना दे सकती है। यह सेना भारतीय सेना रही है जिसके लिए ब्रिटिश भारत सदैव भुगतान करता रहा है। ब्रिटिश भारत ने एक शक्तिशाली सेना खड़ी न की होती और यह सेना वायसराय तथा गवर्नर जनरल के माध्यम से राजा के अधीन नहीं होती तो राजा प्रभुता की शक्ति ग्रहण नहीं कर पाता और इसे बनाए न रख पाता। ये शक्तियाँ भारत के लोगों के लाभ के लिए धरोहर के रूप में राजा को मिली हैं और यदि ब्रिटिश संसद कानून बना कर इस धरोहर को समाप्त करती है, तो यह विश्वासघात होगा। प्रभुता एक सुविधा है जो राजा को राजकुमारों के साथ सन्धि के आधार पर प्राप्त हुई है। अतः स्वतन्त्र भारत प्रभुता की विरासत का दावा करता है तो यह वैध ही होगा।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि भारत के स्वतन्त्र होने पर क्या होगा। इसका उत्तर यह है कि राजा नहीं रहेगा और इसलिए राजा को सलाह देने का प्रश्न ही नहीं रहेगा। क्या स्वतन्त्र भारत, विरासत में राजा के विशेषाधिकारों का दावा कर सकता है? इसका उत्तर है हाँ। स्वतन्त्र भारत इसका दावा कर सकता है। क्या स्वतन्त्र भारत उत्तराधिकार राज्य होगा? इस प्रश्न के उत्तर के लिए हमें राज्यों के उत्तराधिकार सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रावधानों पर विचार करना होगा। ओपनहेम ने स्वीकार किया है कि एक परवर्त राज्य को पूर्ववर्ती राज्य के कतिपय अधिकार विरासत में मिल सकते हैं। हाल्स के अन्तर्राष्ट्रीय कानून से यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य वस्तुओं के साथ-साथ राजा के सन्धि के अन्तर्गत जो सम्पत्ति और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, वे उत्तराधिकारी राज्य को विरासत में मिल सकती हैं। एक उत्तराधिकारी राज्य होने के नाते भारत कुछ अधिकार उत्तराधिकार में पा सकता है। उस सम्बन्ध में हाल के अन्तर्राष्ट्रीय कानून से निम्नलिखित अंश उद्धृत करना संगत होगा- "और चूँकि पुराना राज्य निरन्तर बना रहता है अतः एक व्यक्ति के रूप में इसकी जो चीज होती है वह इसने स्पष्ट रूप से नहीं खोई है तो इसके पास बनी रहती है। अतः वह सम्पत्ति और सुविधाएँ जो इस सन्धि के आधार पर मिली हैं और जिसका सेवन वह एक व्यक्ति के रूप में करता है या इसकी प्रजा इसके अंश के रूप में करती है, इसके पास ही रहती हैं। दूसरी ओर खोए राज्यक्षेत्र पर प्राप्त अधिकार राज्यक्षेत्र के सत्तान्तरणों तथा सीमा के सीमांकनों सम्बन्धी सन्धियों के अधीन प्राप्त अधिकार केवल इसके सम्बन्ध में स्वीकार की गयी देनदारियाँ और वह सम्पत्ति जो इसमें हो और इस कारण स्थानीय स्थिति में संस्थाओं की हो, नये राज्य को हस्तांतरित हो जाती हैं।"

निष्कर्ष यह है कि भारत के आजाद होने पर भारतीय रियासतों की वही स्थिति

बनी रहेगी जो इनकी अब है। जिस कदर ये इस समय प्रभुता सम्पन्न राज्य है उसी तरह वे बाद में बने रहेंगे। लेकिन जब तक वे अधिराज्य के नियन्त्रण में रहेंगे तब तक वे स्वतन्त्र राज्य नहीं हो सकते क्योंकि यदि भारत एक डोमीनियन बना रहता है तो वे राजा के नियन्त्रण में रहेंगे और भारत आजाद हो जाता है तो वे भारत सरकार के नियन्त्रण में रहेंगे।

जब तक अधिराज्य बना रहेगा वे कभी भी स्वतन्त्र नहीं हो सकते। रियासतें अपने आप को स्वतन्त्र घोषित कर सकती हैं, लेकिन उन्हें यह समझना चाहिए कि जब तक अधिराज्य टिका रहेगा और भारत के आजाद होने पर भी इसे टिका रहना चाहिए, भारत उनकी स्वतन्त्रता को मान्यता नहीं देगा। और बाहर के देश भी उन्हें स्वतंत्र देश के रूप में मान्यता नहीं देंगे। केवल एक मार्ग जिसके द्वारा भारतीय रियासतें अपनी प्रभुता स्वतन्त्र कर सकती हैं वह है प्रभुता और अधिराज्य का विलय। यह तभी सम्भव हो सकता है जब रियासत भारत संघ में मिल कर भारत का अंग हो जाएँ। रियासतों के प्रवक्ताओं को यह जान लेना चाहिए किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे इसे भूल गये हैं। अत: उन्हें यह याद दिलाना आवश्यक है कि गोल मेज सत्र में क्या हुआ था। आरम्भ में रियासतें संघ में आने को तैयार नहीं थीं। वे संघर्ष के लिए तब तैयार हुईं, जब उन्हें मालूम हुआ क बटलर समिति ने यह सिद्धान्त बनाया है कि प्रभुत्व प्रभुसत्ता है। विचारों में यह परिवर्तन तब आया, जब उन्होंने अनुभव किया कि जितनी प्रभुसत्ता संघ को हस्तांतरित की जाएगी उतनी ही प्रभुसत्ता लुप्त हो जाएगी। वास्तव में जैसा कि हममें से अधिकांश लोग जानते हैं राजकुमारों ने यह प्रश्न राज्य के सचिव के समक्ष उठाया और उससे कहा कि सूची संख्या एक में सम्मिलित विषयों को निष्कासित कर के प्रभुता के दायरे को सीमित किया जाना चाहिए। राज्य के तत्कालीन सचिव के पास देने के लिए कोई उत्तर नहीं था और उसने गुस्सा दिखाकर उनको चुप करा दिया। राज्य के सचिव के रूप की ओर ध्यान न दिया जाये तो भी बात यह है कि राजकुमारों की समझ में यह बात आ गयी थी कि संघ में सम्मिलित होने से ही प्रभुता समाप्त हो सकती है। यह बात जितनी पहले मान्य थी उतनी आज भी है। भारतीय रियासतों के लिए विवेकपूर्ण यही होगा कि वे इसी सिद्धान्त का पालन करें और आजादी की मृग मरिचिका में न पड़ें। अत: भारत के लोगों को केबिनेट मिशन के इस प्रस्ताव को ठुकरा देना चाहिए कि प्रभुता समाप्त हो जाएगी। उन्हें इस बात पर बल देना चाहिए कि प्रभुता समाप्त नहीं हो सकती और वे उस प्रभुता के उत्तराधिकारी हैं। वे उन भारतीय रियासतों की तरह इसका प्रयोग करते रहेंगे जो अंग्रेजों के चले जाने के बाद भी संघ में सम्मिलित नहीं होते। दूसरी ओर राज्यों को यह महसूस करना चाहिए कि प्रभुसत्ता सम्पन्न भारतीय रियासतों के रूप में उनका अस्तित्व पाँच वर्षों की आय के बराबर भी नहीं है। यह राजकुमारों के हित में है कि वे संघ में सम्मिलित हों और संवैधानिक राजा बन जाएँ। कोई दीवान जो राजकुमार को संघ

में सम्मिलित न होने की सलाह देता है, वास्तव में राजकुमार के शत्रु का काम करता है। निस्सन्देह संघ में सम्मिलित होने पर एक उत्तरदायी सरकार बनानी होगी, लेकिन इससे यह लाभ है कि संघ राजकुमारों को राजवंशीय उत्तराधिकार के अधिकारों की गारंटी देगा। एक राजकुमार अधिक से अधिक इसकी ही आशा कर सकता है। स्वतन्त्र रहना और संयुक्त राष्ट्र संघ की मान्यता तथा सुरक्षा प्राप्त करने की आशा करना स्वप्नलोक में रहना है। इसमें सन्देह है कि संयुक्त राष्ट्र संघ उन भारतीय रियासतों को मान्यता देगा, जो भारत के उन पर अधिराज्य के दावे की उपेक्षा करेंगे। लेकिन यदि ऐसा होता है तो भी संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भारतीय रियासत को इस बात पर बल दिये बिना आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के मामले में कोई सहायता प्रदान नहीं करेगा कि रियासत को पहले अपने क्षेत्र में उत्तरदायी सरकार बनानी चाहिए। ये सभी चीजें स्पष्ट हैं। जो इससे बचना चाहते हैं उन्हें यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि जो इसकी उपेक्षा करेंगे, उनकी वही दशा होगी जो अपने स्वार्थ में डूबे लोगों की होती है।

*****

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान
DR. AMBEDKAR FOUNDATION

☎ 23320571
23320589
23320576
FAX : 23320582

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय
MINISTRY OF SOCIAL JUSTICE AND EMPOWERMENT
भारत सरकार
GOVERNMENT OF INDIA

निदेशक
DIRECTOR

15, जनपथ,
15, JANPATH
नई दिल्ली - 110001
NEW DELHI-110001

दिनांक – 31.10.2019

रियायत नीति (Discount Policy)

सक्षम प्राधिकारी द्वारा यह निर्णय लिया गया है कि पहले के नियमों के अनुसार CWBA वॉल्यूम के संबंध में रियायत नीति (Discount Policy) जारी रखें। तदनुसार, CWBA इंग्लिश वॉल्यूम (डिलक्स संस्करण–हार्ड बाउंड) के एक पूर्ण सेट की कीमत और CWBA हिंदी वॉल्यूम (लोकप्रिय संस्करण–पेपर बाउंड) के एक पूरे सेट की कीमत निम्नानुसार होगी :

क्र.सं.	सीडब्ल्यूबीए सेट	रियायती मूल्य प्रति सेट
	अंग्रेजी सेट (डिलक्स संस्करण) (वॉल्यूम 1 से वॉल्यूम 17)– 20 पुस्तकें।	रू 2,250/–
	हिंदी सेट (लोकप्रिय संस्करण) (खंड 1 से खंड 40 तक)– 40 पुस्तकें।	रू 1073/–

2. एक से अधिक सेट के खरीदारों को सेट की मूल लागत (Original Rates) यानी रू 3,000/–(अंग्रेजी के लिए) और रू 1,430/–(हिंदी के लिए) पर छूट मिलेगी जो कि निम्नानुसार है।

क्र.सं.	विशेष	मूल लागत पर छूट का प्रतिशत
	रू 1000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	10%
	रू 1001–10,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	25%
	रू 10,001–50,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	33.3%
	रू 50,001–2,00,000/– रुपये तक की पुस्तकों की खरीद पर	40%
	रू 2,00,000/– से ऊपर की पुस्तकों की खरीद पर	45%

3. इच्छुक खरीदार प्रतिष्ठान की वेबसाइट : www.ambedkarfoundation.nic.in पर विवरण के लिए जा सकते हैं। संबंधित CWBA अधिकारी / पीआरओ को स्पष्टीकरण के लिए दूरभाष नंबर 011–23320588, पर कार्य दिवसों में पूर्वाह्न 11:30 बजे से शाम 5:30 बजे तक संपर्क किया जा सकता है।

(देबेन्द्र प्रसाद माझी)
निदेशक, डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

बाबासाहेब डॉ. अम्बेडकर सम्पूर्ण वाङ्मय (भाग-II)

ISBN (सेट) : 978-93-5109-129-5

रियायत नीति के अनुसार

सामान्य (पेपरबैक) खंड 01-40

के 1 सेट का मूल्य : ₹ 1073/-

प्रकाशक :

डॉ. अम्बेडकर प्रतिष्ठान

सामाजिक न्याय और अधिकारिता मंत्रालय

भारत सरकार

15, जनपथ, नई दिल्ली – 110 001

फोन : 011–23320571

जनसंपर्क अधिकारी फोन : 011–23320588

वेबसाइट : http://drambedkarwritings.gov.in

ईमेल : cwbadaf17@gmail.com